पाठकों के कर-कमलों में यह पुस्तक प्रस्तुत होते देख अत्यन्त प्रसन्नता होती है। कारण कि लगभग १३ साल पहिले का प्रयास सौभाग्य से आज सफल हो रहा है। परन्तु जबतक जनता इसे हृदय से नहीं अपनायगी तब तक हमारी कल्पना कोरी स्वप्नराज्यवत् होगी। यद्यपि हमें पूर्ण आशा और विश्वास है कि पुस्तक की शैली अपने ढंग की एक है और इसीलिये यह सर्व—साधारण को पसंद आयगी। फिर भी अखिल महानुभावों से हमारा सानुरोध और सविनय निवेदन है कि अज्ञान व प्रमाद वश जहां कहीं न्यूनता, अधिकता, एवं अनावश्यकता होगई हो, उसके लिये क्षमा देते हुए सूचित करेंगे, ताकि निकट भविष्य में उसके सुधार की कोशिश की जा सके।

इसके सिवाय इसके उपयोगित्व-अनुपयोगित्वका फैसला हम पाठकों पर ही छोड़ते हैं। सिर्फ इतना अवश्य कहे बिना नहीं रह सकते कि बुद्धि-पूर्वक भरसक सरस-सरल और सुपाठ्य होने बाबत अधिक ध्यान दिया गया है। बल्कि इसी बूतेपर अन्य अनेक टीकाओं के होते हुए भी यह (मनमोहनी) टीका साहित्य संसार में नवीनता पैदा करने के लिये लिखी और प्रकाशित की गई है। अगर हमारा यह अनुमान सत्य--सिद्ध हुआ तो थोड़े समय बाद ही हम एक और नया पुष्प पाठकों की भेंट कर सकेंगे, ऐसी आशा

है। शेष सफाई छपाई और सस्ताई सामने है, अतएव इस के बारे में कुछ कहना ही व्यर्थ है। अखीर में यह और प्रार्थना है कि झटिति किसी विषय में इक तरफा फैसला न कर डालेंगे बहुत सोच समझकर काम करेंगे। विज्ञेषुकिमधिकेन

भवदीय—

मुन्नालाल राँधेलीय (न्यायतीर्थ)

सागर सी० पी०

लिखित-

१६-५-१६

प्रकाशित-

२५-७-२६

श्री वीतरागाय नमः

स्वर्गीय कविवर पं० दौलतराम जी कृत

छहढाला-सार्थ ।

ग्रन्थकार का मंगलाचरण

सोरठा—

तीन-भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता ।
शिवस्वरूप-शिवकार, नमहुँ त्रियोग सम्हारिकै ॥

शब्दार्थ—

तीनभुवन=तीन लोक (१ ऊर्ध्व लोक-जहां पर कल्पवासीदेव रहत हैं, २ मध्यलोक—जहाँ पर मनुष्य पशु-पक्षी आदि रहते हैं, ३ अधोलोक—जहां पर असुरकुमार राक्षस वगैरह नीच देव और नारकी जीव रहते हैं)। सार=सबसे उत्तम (अनुपम) वीतराग=योगीश्वर (१ रागको आदि लेकर २ द्वेष ३ जन्म ४ बुढ़ापा ५ मरण ६ भूख ७ प्यास ८ आश्चर्य ९ आकुलता १० खेद ११ रोग १२ शोक १३ मद १४ मात्सर्य १५ भय १६ निद्रा १७ चिन्ता १८ पसीना इन मोटे २ अठारह दोषों, या यों कहिये कि १ ज्ञाना वरणी २ दर्शनावरणी ३ अन्तराय और ४ मोहनी इन चार घातिया

कर्मों से रहित । विज्ञानता=विशेषज्ञान (दिव्यज्ञान-केवलज्ञान जोकि बिना किसी की सहायताके लोक अलोक सबको युगपत हस्तामलकवत् जानता है) । शिवस्वरूप=निरावरण-मोक्ष के समान (दिगम्बर मुद्रा) । शिवकार=मोक्ष का करने वाला (मोक्ष मार्ग प्रदर्शक-हितोपदेशी) । नमहुं=नमस्कार करना। त्रियोग= तीन योग (मन, वचन, काय,) सम्हारिके=स्थिर करके-सावधानता पूर्वक ।

अर्थ-

तीन लोकमें जिसकी कोई बराबरी नहीं कर सक्ता ऐसे सबसे उत्तम देवको-जोकि वीतराग है याने सांसारिक समस्त झंझटोंसे रहित है। तथा विज्ञानस्वरूप है याने सर्वज्ञ है। और स्वयं मोक्ष स्वरूप अर्थात् जीवन मुक्त होता हुआ दूसरोंको मोक्षका करने वाला है याने हितोपदेशी (मोक्ष मार्ग-प्रदर्शक) है। ऐसे असाधारण त्रितय गुण *विशिष्ट सच्चे देवको-मैं(ग्रन्थकार पं० दौलतराम) अपने तीनों योगों को एकाग्र करके नमस्कार करता हूं।

भावार्थ-

सच्चे देवके वीतरागता, सर्वज्ञता, हितोपदेशकता, ये तीन गुण मुख्य है। बस इन्हीं के जरिये आप्त की सिद्धि एवं पहिचान होती है। इस वास्ते मात्र दिगम्बर मुद्राको छोड़ संसार

* जोकि हरएक सच्चे देव में होना चाहिये और जिनके बिना कोई सच्चा देव हो नहीं सक्ता ।

में और कोई इसका अधिकारी नहीं हो सक्ता, ऐसा विश्वास रख सदैव उसको उपासना करना चाहिये। और यही लक्ष रख ग्रन्थकार ने अपने मंगलाचरण में इष्ट—देव को नमस्कार किया है। यहाँ पर इतनी विशेषता समझना चाहिये कि अन्य भाषाकारोंने उपर्युक्त सोरठा का अर्थ इष्टदेव-परक नहीं किया प्रत्युत तदीय ज्ञान परक किया है। लेकिन सोरठा के प्रत्येक पद व विशेषण को ध्यानमें रखते हुए यही ध्वनित होता है कि इसका अर्थ इष्टदेव परक ही होना चाहिये। अन्यथा सूक्ष्म विचार करने पर कई विशेषण व्यर्थ पड़ते हैं या यों कहिये कि उनका कोई विशेष महत्त्व प्रकट नहीं होता। ऐसी दशा में पृथक रूप से गुण की उपासना न कर फलत-संप्राप्त (सोरठा में स्पष्ट रूपेण उल्लिखित न होने पर भी युक्ति व आगम से प्राप्त होने वाला) गुणी-इष्टदेव की ही उपासना करना श्रेयस्कर है। बुद्धिमान विचार करें।

खुलासा—

पाठक महोदयों के प्रति यह नम्र निवेदन है कि जहां तहां जैन-धर्मके पारिभाषिक शब्दोंको जिन्हें कि हरएक आसानी से नहीं समझ सक्ते-हमने प्रचलित भाषा में सुगमता का ख्याल रखकर परिवर्तित कर दिया है। और इतना ही नहीं प्रचलित व्यवहार (बोल चाल) के अनुसार कहीं उनका क्रम भग भी उपयोग में लिया है (उदाहरणार्थ उपर्युक्त अठारह दोष वर्णन प्रस्तुत है) ऐसी दशा में सज्जन विद्वान प्रमाद या स्खलन न समझ केवल आशय का अनुकरण करेंगे और मूल पर क्षयोपशम ज्ञान समझ क्षमा देंगे।

अथ पहिली-ढाल

आगें ग्रन्थकार—विघ्न—विघातार्थ (निर्विघ्न—ग्रन्थ—परिसमाप्त्यर्थ) शिष्टाचार-परिपालनार्थ, तदुपकार-स्मरणार्थ, नास्तिकता-दोषपरिहारार्थ-मँगलाचरण करके उद्धार करने की इच्छा-से प्रेरित होकर सँसारी जीवों की चाह के अनुसार कुछ हितोपदेश (शिक्षा) देते है । इससे ग्रन्थकार का ग्रन्थ बनाने का उद्देश्य-प्रयोजन भी प्रकट होता है। कारण कि विना प्रयोजन के कोई मूर्ख आदमी भी किसी कार्य मे प्रवृत्त नहीं होता तब इतने बडे विद्वान व्यर्थ ही कैसे प्रवृत्ति करेंगे ?

उद्देश्य—

(चौपाई १५ मात्रा)

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुःखतें भयवन्त ।
तातें दुःख-हारी सुख-कार, कहें सीख गुरु करुणा धार ॥ १

शब्दार्थ—

त्रिभुवन = तीन लोक--जो कि पीछे वता चुके है । अनन्त = जिसकी लौकिक संख्या (एक दो आदि) से गिन्ती न हो सके । भयवन्त = डरनेवाले । सीख = शिक्षा-उपदेश । गुरु = धर्माचार्य-जैसे दिगम्बर मुनि आदि । करुणा = दया ।

अर्थ—

तीनों लोकों के विषें अनन्ते (मध्यमानन्त) जीव निवास करते हैं और वे सदैव सुख की चाह रखते हैं

और दुःख से डरते हैं। इसलिये उन जीवों के दुःख को दूर करने वाली और सुख को उपजाने वाली ऐसी शिक्षा श्री गुरु महाराज अपने मन में दया भाव (उपकार करने की इच्छा) धारण करके कहते हैं अर्थात् परोक्ष शास्त्रों में लिखते हैं व प्रत्यक्ष उपदेश देते हैं।

भावार्थ-

तीनों लोकों के भीतर घी के घड़े की तरह अनन्त जीव राशि ठसाठस भरी हुई है। उसको सदैव यह इच्छा रहती है कि मुझे सुख प्राप्त हो और दुःख का नाम भी मैं न सुनूँ इत्यादि। परन्तु चाहा हुवा कभी होता नहीं; फिर भी धर्म गुरु आदि उत्तम पुरुष परोपकार-बुद्धि से प्रेरित होकर जीवों को उनके कल्याण के अर्थ कोई न कोई उत्तम उपदेश शास्त्रों के जरिये या प्रत्यक्षरूप से दिया ही करते हैं। इस ग्रन्थ में भी पंडित दौलतराम (ग्रन्थकार) जी वही बात कहना चाहते हैं या कहेंगे जो जीवों को इष्ट है। क्योंकि रोगियों को यदि इच्छा के अनुसार दवाई मिल जावे तो कहना ही क्या है? वह तो उसे बड़े प्रेम से सेवन करेगा। ठीक उसी तरह यह हाल है। बुद्धिमान् एवं चतुर उपदेशक का काम है (बुद्धिमान् की यह विशेषता है) कि वह उपदेश देने के पेश्तर इस बात की जॉच करें कि श्रोता क्या चाहते हैं? तब संभव है कि उसका प्रयत्न सफल हो जायगा। यहां भी सांसारिक दुःखों से पीडित और भयभीत जीवों को आश्वासन देने के लिये आचार्य प्रयास करते हैं और दुःख

दूर करने वा सुख उपजाने का प्रलोभन देते हैं ।

प्रेरणा—चेतावनी

ताहि सुनो भवि मन-थिर आन ,
जो चाहो अपना कल्यान ॥

शब्दार्थ—

ताहि=उस—जो आगे कही जायगी । भवि=भव्यजीव जो संसार समुद्र से पार हो सक्ते है । थिर=स्थिर— सावधान । आन= करके । कल्याण=भला ।

अर्थ—

हे भव्य जीव ! (प्रेम आलाप) अगर तुम अपना भला चाहते हो, अर्थात् तुमको अपने कल्याण होने की इच्छा है तो तुम स्थिर चित्त होकर (सावधान मन से सब विकल्पों को छोड़कर) हमारी शिक्षा (उपदेश— वार्ता) को सुनो जो हम कहने वाले हैं ।

भावार्थ—

संसारी जीव सदैव चंचलचित्त रहते हैं कारण कि उनको एक न एक व्याधि घेरे ही रहती है । कभी गृहस्थी की चिन्ता है तो कभी मरने की, कभी खाने-पीने की तकलीफ है तो कभी स्वतंत्र रहने की, कभी राजा का डर है तो कभी चोर चांडालों का, कभी पढ़ने की फिक्र है तो कभी मूर्ख होने की शल्य है, कहां तक लिखा जाय दिन—रात शल्य पर शल्य सताती रहती है; जिससे कभी भी शान्त—चित्त नहीं

हो पाते । और उस दशा में यदि कोई शिक्षा वगैरह का प्रयास किया जाय तो सब निष्फल है; क्योंकि वह उन्हें लागू ही नहीं हो पाता और तब उसका असर ही क्या होगा ? इस वास्ते उपदेश देने के पेश्तर ही आचार्य सावधान किये देते हैं ताकि वे उस उपदेश को अच्छी तरह सुने व गुने और उससे उनका कल्याण जरूर ही जरूर हो ।

कारण-निर्देश

मोह महामद पियो अनादि,
भूल आपको भरमत वाद ॥ ३ ॥

शब्दार्थ-

मोह=मोहनीकर्म—जो स्वपर के विवेक को भुला देता है। महामद=बड़ा भारी मदिरा—जिसके पीते ही—तुरँत नशा चढ़ जाय । अनादि=जिसकी आदि नहीं—कब पिया है ? भूल=बिसरकर । भरमत=भ्रमण करना—इधर से उधर जाना । वाद=व्यर्थ—विना प्रयोजन ।

अर्थ-

अनादिकाल से मोहनी कर्म-रूपी बड़े भारी-हाला हल, मदिरा को पीकर अतएव अपने आपको (स्वरूप को) भूलकर यह जीव व्यर्थ ही नाना योनियों में भटकता फिरता है ।

भावार्थ-

आठ कर्मों में मोहनीकर्म सबसे प्रबल वा बड़ा माना गया है इसलिये कि वही जीव को सब से ज्यादह फँसाता है। यही नहीं सबसे पहिले वह विवेक—बुद्धि पर धावा करता है और जब जीव को अचेतनसा बना लेता है तब मनचाहा काम कराता रहता है। जिसकी बदौलत ८४ लाख योनियों में रहँट की घरियां के समान हरदम घूमा करता है। कभी भी सुख—शान्तिका लाभ नहीं होता, बल्कि अच्छा उपदेश उसे रुचता ही नहीं है। जिस तरह पित्त-ज्वर वाले को मीठी दवाई नहीं रुचती प्रत्युत कड़वी मालूम होती है। इसका मतलब यह है कि जीव का खास धन प्राण जो दर्शन—ज्ञान—चारित्र है, उसीको पहिले मोहकर्म विगाड़ता है जिससे अनन्त संसार होता है। अर्थात् मिथ्यादृष्टि होता हुवा कुतत्वों—कुदेव—कुशास्त्र—कुगुरुओं में, श्रद्धान ज्ञान एवं आचरण करता है व सुतत्वों—सुदेव—सुशास्त्र—सुगुरुओं में द्वेष रखता है इत्यादि। इसलिये संसार का कारण या यों कहिये कि उस बीती हुई वार्ता (कथा) का प्रधान कारण—मोहकर्म रूपी मदिरा ही है।

साक्षी-प्रमाणता

तास भ्रमन की है बहु कथा, पै कछु कहूं कही मुनि यथा।

शब्दार्थ-

तास = उस-जो कहने वाले हैं। बहुकथा = बड़ी कहानी-बड़ा विस्तार। कछु = कुछ—थोड़ीसी। कहूं = कहता हूँ। यथा = जैसी।

अर्थ—

यद्यपि संसार में घूमने की कथा बहुत बड़ी है याने भारी विस्तार रूप है, तौ भी मैं उसे संक्षेप में-थोड़े में कहता हूं जैसी कि पूर्वाचार्यों-मुनियोंने कही है।

भावार्थ—

मोह कर्मके सम्बन्ध से ८४ चौरासी लाख योनियों में भकटते हुए अनादि-अनन्तकाल होगया है। इसलिये यदि उसका सिलसिलेवार वर्णन किया जाय तो भारी, विस्तार हो जायगा। इसका सबब यह है कि अव्वल तो छद्मस्थ--अल्पज्ञानी जीव उसका वर्णन कर ही नहीं सक्के, दूसरे यदि किसी तरह साहस करें भी तो पूरा नहीं पाड़ सके। कारण कि न तो उतनी योग्यता है न उतना समय है, न उतनी शक्ति है इत्यादि। इसस 'गागर में सागर जल' की तरह ग्रन्थकार जीव की पूर्वोत्तर—दशा दिखाने की गरज से यह प्रयत्न करते हैं। सो भी वे अपनी कपोल-कल्पना से कुछ नहीं कहेंगे अन्यथा अप्रमाणता का दूषण आवेगा, याने अल्प-ज्ञानियों की कृति समझ लोग उसका आदर नहीं करेंगे। कारण कि उसमें पूर्वापर विरोध होनकी संभावना रहती है। इसलिये ग्रन्थकार पूर्व ऋषि-मुनियों की साक्षी देते हे कि उन्होंने जैसा कहा है उसीके अनुसार हम भी थोड़ासा कहते हैं।

प्रारम्भ--

काल अनन्त निगोद मझार,
वीत्यो एकेन्द्री-तनधार ॥

शब्दार्थ—

निगोद मझार=निगोद के भीतर। वीत्यो=बीता है--गुजरा है। एकेन्द्रिय-तन=एकेन्द्रीका शरीर (पर्याय)। धार=धारण करके।

अर्थ—

शुरू शुरूमें यह जीव वनस्पति आदि एकेन्द्रिय शरीर पर्याय को धारण कर अनन्त काल तो निगोद (पर्याय विशेष—जो आगे कहते हैं) के भीतर विताता है। फिर

भावार्थ—

यहां पर व आगे भी कई जगह मूल में भूतकाल की क्रिया होगई है परन्तु हम उसको वर्तमान का रूप देते हैं। कारण कि ऐसा करने से यह विषय जनरल (साधारण) हो जाता है और उसमें सुन्दरता भी आजाती है। जैसे वीत्यो का अर्थ होता है—विताया (भूतकाल) परन्तु हम उसका अर्थ-वीतना (वर्तमान काल) लिखते हैं। हाँ आशय मे विभिन्नता कुछ भी नहीं है। इसलिये कोई दोषाधायक न समझे इत्यादि।

प्रश्न-निगोद किसे कहते हैं? इसका उत्तर—

एक श्वास में अठदश बार।
जन्म्यो मर्यो भर्यो दुःखभार ॥

शब्दार्थ-

श्वास=आभ्यन्तर उदर से चलकर मन्द गति से तलवेमें लगती हुई जो वायु बाहर निकलती है उसको श्वास कहते हैं। अठदश=अठारह। जन्म्यो=जन्म लिया। मर्यो=मरण किया। भर्यो=उठाया--सहन किया। दुःख भार=दुःख का बोझ।

अर्थ-

एक सुखी आदमी की श्वासोच्छ्वास बराबर कालमें १८ अठारहवार जन्म और अठारह वारही मरण जिस पर्याय (स्थान-योनि) में हो उसको निगोद कहते हैं। बस इस निगोद पर्याय में ही जन्म मरण के अनन्त दुःख सहकर अनन्त काल बिताना पड़ते हैं। तब कहीं निकलना होता है।

भावार्थ-

दरअसल में निगोद एक पर्याय—विशेष को कहते है जो कि अत्यन्त सूक्ष्म है। केवली भगवान ने अपने दिव्य—ज्ञान से उसीका प्रमाण एक श्वासके अठारहवें भाग बराबर बताया है। अर्थात् उसमें इतना थोड़ा जीवन है कि जहां वह अठारह वां भाग पूरा हुआ नहीं कि तुरन्त ही आयु पूरी होकर

मरण होजाता है। बस इसी पर्याय का नाम निगोद है और वह वनस्पति-कायिक जीव की क्रिया है। हाँ इसके नित्य निगोद और इतर (चतुर्गति) निगोद ऐसे दो भेद है। और उनके रहने के दो स्थान हैं। एक तो सातवें नरक के नीचे एक राजू क्षेत्र है उसमें वे रहते हैं। दूसरे चारो ही गतियों में वे पायेजाते हैं। इस तरह उनके रहनेके स्थानका भी नाम निगोद समझना चाहिये, क्योंकि कथन निश्चय और व्यवहार दोनों से होता है।

प्रश्न—निगोद से निकलने का क्या क्रम है? इसका उत्तर—

निकसि भूमि जल पावक भयो।
पवन प्रत्येक वनस्पति थयो ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—

निकसि=निकलकर। भूमि=पृथ्वी। जल=पानी। पावक=अग्नि। पवन वायु। प्रत्येक=हरएक अथवा एक स्वामिवाला। वनस्पति=वृक्षादि।

अर्थ—

पूर्वोक्त निगोद पर्याय से निकलकर यह जीव—पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और वनस्पति अथवा प्रत्येक वनस्पति इन पांचों स्थावर (एकेन्द्री) पर्यायों में से हरएक स्थावर पर्याय को धारण करता है। अर्थात् जब कभी सौभाग्यवश काल-लब्धि आती है, तब यह जीव अपनी एक-एकेन्द्री निगोद अवस्था-को छोड़कर दूसरी एकेन्द्री

ही-पर स्थावर अवस्था को धारण करता है जोकि व्यवहार राशि कहलाती है। इसका मतलब यह है कि अगर निमित्त मिलजाय तो फिर उस जीव का सुधार (उन्नति) आसानी से हो सक्ता है।

भावार्थ–

व्यवहार का अर्थ है भेद—सो जिस पर्याय में भेद होने लगजाय वह व्यवहार-पर्याय या व्यवहार-राशि कहलाती है। जैसे जबतक इस जीव की निगोद पर्याय रहती है तबतक उसकी आत्मा में सिवाय निगोद एकेन्द्रियत्व के और कोई दूसरा भेद ही नहीं होता। और जब स्थावर पर्याय में वह आ जाता है तब पृथ्वी एकेन्द्री, जल एकेन्द्री इत्यादि भेद होने लगता है-इसीलिये उसको व्यवहार राशि कहते हैं। इस प्रकार वह एकेन्द्री निगोदिया जीव अनादि-अनन्तकाल पर्यन्त निगोद पर्याय में ही वास करता हुआ जन्म-मरण के घोर दुःख उठाता है, तब कहीं सौभाग्य से वह (काल लब्धि) पाता है जिसमें उसका निकलना होता है। बस उसी का नाम है काल-लब्धि, जिस कालमें उस कार्य की सिद्धि होना है।

प्रश्न—स्थावर पर्याय के बाद कौनसी पर्याय होती है और उसका तरीका (क्रम) क्या है? इसका उत्तर—

दुर्लभ लहि ज्यों चिन्ता मणी।
त्यों पर्याय लही त्रस-तणी॥

लट पिपील अलि आदि शरीर।
धर २ मर्यो सही बहु पीर॥ ६॥

शब्दार्थ–

दुर्लभ = कठिनता से मिलने वाला। लहि = पावे। ज्यों = जैसे। चिन्तामणी = मन वांछित फल देने वाला रत्न विशेष। त्यों = तैसे। पर्याय = अवस्था। त्रसतणी = त्रस सम्बन्धी। लट = रुनो वगैरह-द्वीन्द्रिय। पिपील = चिउटी-तीन्द्रिय। अलि = भौंरा चतुरिन्द्रिय। बहुपीर = बड़ा भारी दुःख।

अर्थ–

जिस तरह चिन्तामणि रत्न, बड़ी कठिनाईसे मिलता है। उसी तरह स्थावर पर्यायके बाद-यह त्रसपर्याय भी बड़े भाग्य एवं परिश्रम से प्राप्त होती है। सो भी रुनी (द्वीन्द्रिय) चिऊंटी (त्रीन्द्रिय) भौंरा (चतुरिन्द्रिय) इस क्रम से-(सीढ़ी वार न कि एक साथ) मिलती है। और जन्म मरणके बहुलसे दुःख उठाना पड़ते हैं।

भावार्थ–

जिस तरह चिन्तामणी रत्न का मिलना कोई आसान बात नहीं है; वरन वह अत्यन्त (अतिशय) पुण्य के उदय से किसी २ को मिलता है। ठीक उसी तरह द्वीन्द्रियादि त्रसपर्याय का मिलना भी समझना चाहिये। नहीं तो निगोद पर्याय की नाईं स्थावर-पर्याय में भी अनन्तकाल तक रहना

पड़ता है—दमड़ी के रुगन में अनन्तवार विक जाता है। इस त्रस पर्याय को विकलत्रय भी कहते है,। कारण कि अभीतक इन तीन किस्म (रुनी वगैरह) के जीवों को पूरी इन्द्रियां प्राप्त नहीं हुई हैं। अर्थात् इन्द्रियां कुल पांच हैं सो अभी इनको चार इन्द्रियां तक ही प्राप्त होसकी हैं।

प्रश्न—विकलत्रय के बाद कौनसी पर्याय होती है?

उत्तर—

कबहूं पंचेन्द्रिय पशु भयो,
मनबिन निपट अज्ञानी थयो।
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर,
निबल पशू हत खाये भूर ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—

कबहूं=कभी। पशु=तिर्यंच। मनबिन=बिनामनके-असेनी। निपट निरा-अत्यन्त। अज्ञानी=मूर्ख-विवेक रहित। थयो=ठहरो हुआ। सेनी=संज्ञी-मनसहित। क्रूर=हिंसक-रौद्र परिणामी। निबल=बलहीन-कमज़ोर। हत=मारकर। भूर=बहुत-खूब।

अर्थ—

विकलत्रय-पर्याय को छोड़ने के बाद यदि कभी यह जीव पंचेन्द्री पर्याय को पाता है-तो पहिले बिना मनके (असैनी) निरा (अत्यन्त) अज्ञानी पशु होता है-जिस-

को कि थोड़ासा भी विवेक (हिताहित पहिचान) नहीं रहता। कदाचित् किसी तरह मन सहित (सैनी) भी होता है तो सिंह वगैरह हिंसक जानवर होना पड़ता है जिनका कि निरंतर अपने से छोटे और कमजोर प्राणियों को मार २ कर मन चाहा खाना ही पेशा (धंधा) रहता है।

भावार्थ—

विकलत्रय—पर्याय में भी अनन्तकाल वितानेपर बड़ी मुश्किल से एक इन्द्रिय की वृद्धि होती है अर्थात् चौइन्द्री से पचेन्द्री होपाता है। परन्तु फिर भी मनकी कमी रहती है—जिससे कभी भी न शिक्षा ग्रहण करसक्ता है और न उन्नति का मार्ग ढूंढ़ सक्ता है-उल्टे पशु होकर विवेक विना तरह २ के अन्याय अत्याचार करता है (जैसे माताके साथ भी रमण, अपने मल मूत्र का खान—पान, विनाही अपराध के दूसरों को मारना खाना सताना आदि) और कदाचित् कर्म संयोग से मन भी पाता है तो सिंह वगैरह ऐसे हिंसक जानवर होता है जिन को कि हमेशा निर्बल दीन—हीन प्राणियों को विना अपराध के ही सताने मारने खाने और उनपर कोरा रवाब गांठने के दूसरा काम ही नहीं है। सर्वैव अपनी उच्चता और दूसरों की नीचता (दासता) का भाव रहता है, जिससे सातवें नरक तक का पाप सचित करलेता है इत्यादि।

प्रश्न—इसके बाद और क्या होता? इसका उत्तर—

कबहूं आप भयो बलहीन ।
सबलनिकर खायो अति दीन ॥
छेदन भेदन भूख पियास ।
भारवहन हिम आतप त्रास ॥ ८ ॥

शब्दार्थ-

बलहीन = कमजोर-निर्बल । सबलनि = बलवानों । अतिदीन = अत्यन्त गरीब-असहाय । छेदन = छेदना-सुई वगैरह चुभाना । भेदन = काटना । आतप = गरमी । त्रास = दुःख ।

अर्थ-

फिर कभी उस बलवान् को भी कमजोर होना पड़ता है-(क्योंकि सदा एकसे दिन किसीके नहीं रहते) तब उससे भी बलवान् जीव असहाय जान उसे खाजाते हैं। इतना ही नहीं किन्तु उस पशु-पर्याय में पराधीनता के सबब-छेदाजाना, भेदाजाना, भूखा रहना (रखना) प्यासा रहना, बोझा ढोना, जाड़ा व गरमी सहना, इत्यादि के दुःख उठाना पड़ते हैं।

भावार्थ-

पशु- पर्याय अत्यन्त दुःख-मय है, कारण कि एक तो

स्वयं मूक ठहरी, दूसरे पराधीन ठहरी । इन सब न्यूनताओं (कमजोरियों) के सबब बलवान, कमजोरों को सदैव दबाते व दुःखी करते रहते हैं । कभी एक पशु दूसरे पशु को और कभी मनुष्य, पराधीन पशु को—उसको वश में करने के लिये अथवा और कोई स्वार्थ (आजीविका वगैरह) सिद्ध करने की गरज से—छेदना, भेदना, भूखा रखना, प्यासा रखना, बोझा लादना, जाड़ा—गरमी का इन्तजाम नहीं करना आदि दुःख देता है । जैसे एक पशु दूसरे पशुको सींग से छेद डालता है, दाँतों से भेद डालता (काटता) है, छेंककर न चरने देता है न पानी पीने देता है, स्वयं उस पर टूट पड़ता (चढ़ जाता) है और जाड़ा गरमी में खड़ा रखता है जब तक कि वह अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं कर लेता । मनुष्य भी बैल घोड़ा वगैरह पशु को वश में करने या तेजी से काम लेने के लिये आरई, चाबुक लगाना, कान-पूंछ काट डालना, वक्त पर खाना पीना नहीं देना या कम देना, ज्यादह बोझा लाद देना जाड़ा गरमी में खुले बांध देना आदि दुःख देता है। लेकिन बेचारा वह पशु मूक एवं पराधीनता के सबब बिना चूं चरा किये सहता रहता है इत्यादि असंख्य दुःख पशु—पर्याय में समझना। मानसिक दुःख भी कम नहीं है। जो पहिले बलवान था दूसरों को बल के मद से सताता था, वही कमजोर हो जाता है और खुद ही दूसरों से सताया जाता है: तब अत्यन्त दुःख होता है । बलहारी है कर्म की, इससे इनका त्याग कर देना ही अच्छा है ।

प्रश्न—और कौन से दुःख पशु—पर्याय में हैं ? उत्तर—

वध बंधन आदिक दुःख घने।
कोटि जीभतें जात न भनें॥

शब्दार्थ-

वध = मार डालना। बंधन = बांध देना। घने = ज्यादह। कोटि = करोड़। जीभ = जबान। भनें = कहे जाते।

अर्थ-

पूर्वोक्त दुःखोंके अलावा, पशु-पर्याय (गति)में जान से मार डालना, जोर से बांध देना, (जिस में कि इधर उधर न हो सके) आदि बहुत से दुःख भुगतना पड़ते हैं, जो करोड़ों जबानों तक से नहीं कहे जा सक्ते।

भावार्थ-

हिंसक (निर्दयी) व मांस-भक्षी लोग कितने ही पशुओं को जान से मार डालते हैं उनके हाथ पाँव कसकर बाँध देते हैं जिसमें बेचारे तड़फड़ाते रहते हैं और क्षण भर को भी शांति नहीं पाते, यहाँ तक कि वे अपने ही एक अंग का स्पर्श दूसरे से नहीं कर सक्ते। अब कहिये कितनी दुख-मय यह पर्याय (गति) है? अतएव विचारवानोंको चाहिये कि इससे छूटने का उपाय करें। यहाँ तक पशु पर्याय का वर्णन हुआ।

प्रश्न—पशु गति के बाद कौनसी गति होती है? उत्तर—

अति संक्लेश भावतें मरो।
घोर श्वभ्र-सागर में परो॥

शब्दार्थ-

अति = अत्यन्त-घोर । संक्लेश भाव = खोटे विकल्परूप परिणाम-आर्तरौद्ररूप चिंतवन । श्वभ्र = नरक । सागर = समुद्र परो = पहुंचना-उत्पन्न होना ।

अर्थ-

पूर्वोक्त तिर्यंच गति में अत्यन्त संक्लेशता के साथ मरण होने से (जब वहां असह्य-दुख भोगना पड़ते हैं तब परिणाम जरूर खोटे विकल्परूप-चंचल होजाते हैं) जीव, उस मरण समय की संक्लेशता आदि के सबब महान भयंकर नरक रूपी समुद्रमें जाकर गिरता है याने उत्पन्न होता है। अर्थात् तिर्यंच-गति के वाद उसको नरकगति प्राप्त होती है।

भावार्थ-

यों तो स्वभाव से ही तिर्यंचगति में तरह २ के असह्य दुःख होने व उनके प्रतीकार का कोई साधन न होने से निरंतर संक्लेशित एवं दुःखी होना पडता है, जिससे बहुधा संभव हो सक्ता है कि मरण के पहिले ही (बीच में) त्रिभागी के समय नरकादि खोटी-गतियों का बंध हो जाता होगा ?

कदाचित् मौका न लगा तो मरण समय में तो नियम से परभव का बंध होना ही चाहिये। इसलिये आचार्यों का कहना है कि मरण समय का सुधार (समाधि मरण-सल्लेखना) जरूर करो. सम्भव है कि पहिले बंध न हो पाया हो तो उस वक्त के विशुद्ध परिणामों से शुभगति का बंध जरूर होगा और यदि उस वक्त सावधानी नहीं रखी गई किन्तु व्यर्थ की संक्लेशता या आकुलता में मरण बिगाड़ दिया तो फिर नियम से खोटी गति का बंध होगा इसमें सन्देह नहीं है। इसका विशेष प्रकरण वश आगे लिखेंगे। इसीसे एक मनुष्य पर्याय (गति) को छोडकर अन्य गतियों में सुधार होने के पूरे २ साधन न होने से अकसर खोटा ही बंध हुआ करता है। जैसे तिर्यंचगति के बाद बहुधा नरकगति का व देवगति के बाद तिर्यंचगति का इत्यादि।

प्रश्न—नरकगति किसे कहते हैं और वहां पर क्या २ दुःख है? इसका उत्तर ३॥ साढ़े तीन चौपाइयों से देते हैं यथा—

जहाँ (तहाँ) भूमि परसत दुःख इसो।
वीछू सहस डसें नहिं तिसो॥
जहाँ (तहाँ) राध श्रोणित वाहिनी।
कृमि कुल कलित देह दाहिनी॥१०॥

शब्दार्थ—

भूमि=पृथ्वी। परसत=स्पर्श करना-छूना। इसो=ऐसा।

सहस=हजार । डसें=काटें । तिसो=तैसा । राध=पीव । श्रोणित=खून । वाहिनी=नदी । कृमि=कीड़ा । कुल=परिवार । कलित=सहित-युक्त । देह दाहिनी=शरीर को जलाने वाली-दाह उपजावने वाली ।

अर्थ-

जहां पर निम्न प्रकार दुःख पाये जाते हैं उसीको नरकगति कहते हैं । जैसे-जहां की पृथ्वी के छूने मात्र से इतना दुःख होता है कि शरीर में एक साथ एक हजार बिच्छुओं के काटने पर भी उतनी वेदना नहीं हो सक्ती और जहां पर खून व पीव से भरी हुई तथा असंख्यात कीड़ों कर व्याप्त एक नदी (वैतरणी) वहती है जो सदैव शरीर को दाह उपजाती रहती है । तथा (और कौन से दुःख वहां पर हैं ? इसका उत्तर-)

सेमरतरु जुत दल असि पत्र ।
असि ज्यों देह विदारें तत्र ॥
मेरु समान लोह गल जाय ।
ऐसी शीत-उष्णता थाय ॥११॥

शब्दार्थ-

तरु=वृक्ष । दल=पत्ता । असिपत्र=तलवार । देह=शरीर

विदारैं=भेदैं खँड २ करैं। तत्र=वहां। मेरु=सुदर्शनमेरू पर्वत-जो एक लाख योजन ऊंचा-लंबा है व दश हजार योजन मोटा (चौडा) है और चालीस योजन की जिसकी चोटी है। गलजाय=पिघलजाय। शीत=ठंड। उष्णता=गरमी थाय=पाई जाती है।

अर्थ-

उन नरकों में-सेमर वृक्ष के पत्ते तलवार के समान पैने हैं, जो तलवार के माफिक शरीरके खँड २ (टुकड़ा) कर डालते हैं। और ठंड व गरमी इतनी है कि मेरु पर्वत के बराबर लोहे का गोला भी पिघल जा सक्ता है व पिघला हुवा गोला जम जा सक्ता है। याने ठंड के सबब जम जा सक्ता है व गरमी के सबब पिघल जा सक्ता है। तथा-

(और कौन से दुःख वहाँ पर हैं इसका उत्तर)

तिल २ करहिं देह के खंड।
असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचंड॥
सिंधु नीरतैं प्यास न जाय।
तो पण एक न बूंद लहाय॥१२॥
तीन लोक को नाज जुखाय।
मिटे न भूख कणां न लहाय॥

शब्दार्थ-

तिल २=तिली के बराबर । खंड=टुकड़े । असुर=भवनवासी देव । भिडावें=लड़ावें । दुष्ट=कुटिल-अधम-खोटे । प्रचंड=क्रूर-निर्दयी । सिंधु=समुद्र । नीर=जल । पण=परन्तु लहाय=मिले । कणा=कनूका-दाना ।

अर्थ-

उन नरकों में (तीसरे नरक पर्यन्त) अम्बावरीष जाति के भवनवासी-असुर कुमार देव अपनी कुटिलता एवँ निर्दयता के कारण उन नारकी जीवों को पूर्व-भव का स्मरण कराके अथवा कौतूहल वश यहां वहां की मिलाके (चुगली करके) आपस में लड़ा देते हैं व खुद तमाशवीन बन जाते हैं। जिससे नारकी जीव तीव्र क्रोध में आ-आकर (मुर्गों व कबूतरों की तरह) एक दूसरे के शरीर को खंड २ कर डालते हैं। इतना ही नहीं किन्तु प्यास वहाँ पर इतनी जोर की लगती है कि सारे समुद्र का पानी पी-जांय तो भी प्यास न बुझे, लेकिन मिलने को एक बूंद तक नहीं है। और भूख इतनी सताती है कि यदि सारे लोक का अनाज खा-जांय तो भी भूख न मिटे, लेकिन मिलने को एक दाना भी नहीं है। इत्यादि अनेक तरह के दुःख नरकगति में भोगना पड़ते हैं।

भावार्थ-

नरकों (नरकगति) में बहुधा सहज १ शरीर २ मानस ३ और आगन्तुक ४ ये चार प्रकार के अथवा लेश्या १ परिणाम २ देह ३ वेदना और विक्रिया ५ ये पॉच प्रकार के दुःख पाये जाते है। विशेषता सिर्फ इतनी है कि सर्वत्र एकसे दुःख नहीं हैं किन्तु कहीं २ न्यूनाधिक भी है। इसका खुलासा यह है कि स्वभाव से वहां का परिवर्तन (चाल चलन-आब हवा वगैरह कुदरती सृष्टि) ही इस किस्म का है कि उससे वहां के जीवों को सिवाय दुःख के सुख एक क्षण-भरको भी नहीं मिलता। इसी को क्षेत्रज दुःख भी कहते हैं। अर्थात् वहां की चना बराबर भी मिट्टी कहीं यहां आजाय तो २४ कोश के इर्द--गिर्द के सॅज्ञी पचेन्द्री जीव तक उसकी दुर्गन्ध से मर जा सक्ते है—ऐसा शास्त्र का लेख है। दूसरा शारीरिक दुःख भी वहां कम नही है अर्थात् शरीर से सदैव खून व पीव की धारा बहती है, महान् दुर्गन्ध आती है, काटा वांधा छोला व पेला जाता है, तरह २ की शकल बनाई जाती है इत्यादि। मानस दुःख तो है ही क्योंकि सदैव संक्लेशता आकुलता झूरना, अदेख--सका भाव एवं तीव्र क्रोधाग्नि, जलती ही रहती है। और आगन्तुक दुःख यही है कि तीसरे नरक पर्यन्त अम्बावरीष जाति के असुर--कुमार नामक-भवनवासी देव आ जाकर और पूर्व-भव के वैर--भाव बतलाकर कुत्तों एवं कबू-तरों व मेढ़ों की तरह आपस में लड़ाते हैं व आप तमाश बीन बनकर शाबासी देते है, जिससे वे और अधिक क्रोध में आकर जुटते हैं व नोंचते चींथते एवं काटते हैं इत्यादि।

तथा भूख--प्यास की वाधा (वेदना) भी हर वक्त पाई जाती हैं यह वेदना (५ वाँ) दुख है इत्यादि । इसीसे उस क्षेत्र का 'नरक' यह सार्थक नाम (यथार्थ) रखा गया है । अर्थात् जहां पर उत्पन्न होने से जीव स्वतः ही रोने--चिल्लाने लग जांय उसे--नरक--कहते हैं, व वहां के वसने वाले नारकी कहलाते है । वे नरक (भूमियां) सात हैं यथा रत्नप्रभा १ शर्कराप्रभा २ वालुकाप्रभा ३ पंकप्रभा ४ धूमप्रभा ५ तमः प्रभा ६ महातमः प्रभा ७ इति । इन्ही के दूसरे नाम वंशा, मेघा वगैरह भी है । सारांश यह कि इन पृथ्वियों में-जमीन में गढ़े हुए ढोल व मृदंगों की तरह गड्ढे बने हुए हैं-जिन्हें विल या नरक कहते हैं। वस उन्हीं में नारकी जीव हमेशा रहते हैं । और उत्पन्न-उन विलों के ऊपर छतमें हांड़ी फान्नूसों की तरह अनेक तरह के आकार बने हुए हैं-उनमें होते हैं। इस तरह ऊपर (उपपाद--शय्या) उत्पन्न होकर नीचे तत्काल टपक पड़ते हैं और उन विलों में जा--गिरते हैं । वे विल महान् भयंकर कोई ठंडे, कोई गरम, कोई काले, कोई पीले, कोई सफेद आदि है । वहां कुल विल ८४ लाख हैं । इस तरह प्रकरण वश थोड़ा लिखा गया है सो समझ लेना ।

प्रश्न—नरकगति के वाद कौनसी गति होती है ? इसका उत्तर—

ये दुःख बहु सागर लों सहे ।
करम जोगतें नरभव लहे ॥१३॥

शब्दार्थ—

बहु=बहुत । सागर=सख्या विशेष-जो लौकिक संख्या से

नहीं कही जा-सक्ती । जोग=सयोग । नरभव=मनुष्य पर्याय (गति) लहे=पाना ।

अर्थ–

पूर्व में कहे हुए नाना तरह के दुःख बहुत सागर प्रमाण काल पर्यंत भोगने पर सौभाग्य से-बड़ी मुश्किल के साथ, यह मनुष्य पर्याय (गति) मिलती है अर्थात् नरकगति के बाद यह प्राप्त होती है ।

प्रश्न—मनुष्यगति किसे कहते हैं और वहां पर क्या २ दुःख है ? इसका उत्तर—

जननी उदर वस्यो नवमास ।
अंग सकुचतें पाई त्रास ॥
निकसत जे दुःख पाये घोर ।
तिनको कहत न आवे छोर ॥१४॥

शब्दार्थ--

जननी=मतारी । उदर=पेट । वस्यो=रहो । नवमास=नौमहीना । अग=शरीर । संकुचतें=सुकडे रहने से । त्रास=दु.ख । निकसत=जनते वक्त । छोर (छोर)=अन्त-अखीर ।

अर्थ--

जहां पर माताके पेटमें नौमहीना तक रहना पड़ना है और निम्न प्रकार दुःख उठाना पड़ते हैं वही मनुष्य गति है। जैसे-जब यह जीव नरकगति या अन्यगति को छोड़कर मनुष्यगति में आता है तब पेश्तर २ इसको माता के पेट में नौ महीना तक रहना पड़ता है. जहां कि ठीक गठरी की तरह बंधे रहने से शरीर व उसके सभी अंग सुकड़े रहते हैं जिससे अत्यन्त तकलीफ होती है। और जब बाहिर निकलता (जनता) है तब भी कितना घोर दुःख होता है ? यह पूरा कहा नहीं जा सक्ता।

तथा—(और भी दुःख दिखाते हैं)

बालपने में ज्ञान न लह्यो।
तरुण समय तरुणी--रत रह्यो ॥
अर्ध--मृतक सम बूढ़ा-पनो।
कैसे रूप लखे आपनो ॥१५॥

शब्दार्थ--

वालपने=छोटी अवस्था--कुमार अवस्था। तरुण=जवान समय=अवस्था। तरुणी=स्त्री। रत=आसक्त। अर्ध-मृतक=अध मरे। सम=बराबर। बूढ़ापनो=वृद्ध अवस्था—बुढ़ापा। लखे=देखे। आपनो=अपना।

अर्थ--

जब मनुष्य की छोटी अवस्था रहती है तब उसे हित अहित का ज्ञान (विवेक) नहीं होता और जब जवानी आती है तब विषय-सेवन में मस्त रहता है याने स्त्री जाति के साथ अधिक प्रेम व लालसा रखता है तथा जब बुढ़ापा आता है तब उसकी अध मरे जैसी अवस्था होजाती है फिर बतलाइये अपने स्वरूप को पहिचानने का कब मौका इसको (मनुष्य को) मिलता है ? सो समझ में नहीं आता। अर्थात् कभी भी इसको अपने स्वरूप का विचार करने व उस पर अमल लाने का मोका नहीं आता क्योंकि इसके तीनों (बालापन-जवानी-बुढ़ापा) ही पन व्यर्थ में जाते हैं।

भावार्थ--

देखो जब बाल्य--अवस्था होती है तब सदैव प्रायः मल मूत्र में लिपटा रहना पड़ता है कारण कि उस वक्त इन्द्रियों का पूरा विकाश न होने से पराधीन अवस्था रहती है. जब दूसरे चलाते फिराते व शारीरिक क्रियायें (मल--मूत्र कराना, धोना नहलाना आदि) कराते हैं तब वह किसी तरह शुद्ध होता है बाद में कितना ही समय खेल-कूंद में व्यर्थ जाता

है । इसके अनन्तर जब जवानी का प्रवेश होता है तब सिवाय इन्द्रियों के विषय—सेवन व बन-बहाल फिरने के दूसरा काम ही नहीं रहता । जब देखो तब ऐश—आराम चाहने, द्रव्य का दुरुपयोग करने एवं उन्मत्तवत झगड़ने व अनर्थ करने की ही ध्वनि सवार रहती है । अगर उस वक्त कोई हित का उपदेश भी दे तो उसे बुरा लगता है । बहुतेरे तो इस अवस्था के जोश में बरबाद ही हो जाते हैं यहां तक की जीवन से भी हाथ धो बैठते हैं इत्यादि । रहा बुढापा सो वह तो उल्टा भार रूप ही है कारण कि सम्पूर्ण इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं न कानों से सुन पड़ता है न आखो से दीखता है मुंह से लार टपकती है. और तो क्या खुद उसकी सन्तान (बेटा—बहू) भी उससे घृणा करने लगती है । जो वृद्ध जवानी में खुद मुख्त्यार था वही बुढ़ापे में एक २ दाने को मुंहताज हो जाता है—उसकी बात भी घर वालों को नहा रुचती जरा २ सी बात पर कह बैठते हैं—दद्दा तुम एक तरफ बैठो हमारी बातों में मत पड़ो तुम क्या जानो—इत्यादि । धन्य संसार ! उसकी आत्मा में कितना दु.ख होता होगा सो सर्वज्ञ ही जान सक्ता है: परन्तु पराधीन होने से इच्छा न रहते हुए भी सब कुछ सहना पड़ता है । अब बताइये संसार में सुख काहे का व कौन ऐसा समय है जिसमें अपने स्वरूप को पहिचान सके व परभव सुधार सकं ! अतएव समझदारों को चाहिये कि अपनी समझ से व दूसरों के उपदेश से धर्मसाधन व स्वरूप की पहिचान जरूर करे यही मनुष्य पर्याय की विशेषता है । नहीं तो मनुष्य में और पशु में कोई भेद

नहीं है-सब बातें दोनों की एकसी है विचारलें । इस तरह संक्षेप में मनुष्य गति का वर्णन किया है ।

प्रश्न—मनुष्यगति के बाद कौनसी गति होती है व उसका क्या स्वरूप है ? इसका उत्तर—

कभी अकाम निर्जरा करे ।
भवनत्रिक में सुरतन धरे ॥
विषय चाह दावानल दह्यो ।
मरत विलाप करत दुःख सह्यो ॥१६॥

शब्दार्थ—

अकाम = बे मतलब अथवा बिनावांच्छा । निर्जरा = कर्मों का एक देश क्षय होना । भवनत्रिक = भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी ये तीन । सुरतन = देव पर्याय । विषयचाह = विषय-सेवन की इच्छा । दावानल = दवार-पड़ी अग्नि । दह्यो = जलना । विलाप = झूरना ।

अर्थ—

बहुधा अकाम निर्जरा के होने से या करने से होने वाली गति विशेष को देवगति कहते हैं जो कि मनुष्य-गति के बाद होती है, कारण कि वहीं पर बहुधा उसका होना संभव है । अर्थात् अकाम निर्जरा के फलसे भवन-वासी व्यन्तर ज्योतिषी इन तीन किस्म के देवों में से

कोई एक देव होना पड़ता है जिनको कि सदैव विषय की चाह रूपी दमार जलाती रहती है। और मरते समय तो इतनी भूरना होती है कि जिसका कोई पारावार नहीं है-इस तरह अत्यन्त दुःख सहना पड़ते हैं।

भावार्थ-

भवनत्रिक (भवनवासी-व्यन्तर-ज्योतिषी) का मिलना प्रायः अकाम निर्जरा से होता है। अर्थात् जब मनुष्य-पर्याय में शारीरिक मानसिक आदि दुःखों के सहन करने की इच्छा न रहते हुए भी अकस्मात् कोई दुःख भोगना पड़ते हैं-तब प्राकृतिक (स्वभावतः) नियम से आकुलता व संक्लेशता तो होनी ही चाहिये जो कि बंध का कारण है। परन्तु कितने ही मंद-कषायी जीव उस दुःख को पूर्व-भव का कर्जा समझ खुशी २ सह लेते हैं और रच भर भी आकुलित-व्याकुलित नहीं होते। जिससे उनके कर्मों की निर्जरा हो जाती है और नया बंध नहीं होता क्योंकि यह एक तरह का तप है। हालांकि उसका तप करने का उद्देश्य नहीं था पर आ पडने से वह विचलित भी नहीं होता है। बस इसीको अकाम निर्जरा कहते है और उससे प्रायः वही भवनवासी-व्यन्तर-ज्योतिषी देवो की पर्याय मिलती है। यह छोटी (नीचली) देवयोनि है।

जो विमान-वासी हू थाय।
सम्यग्दर्शन विन दुःख पाय ॥

तहँते चय थावर तन धरे ।
यों परिवर्त्तन पूरे करे ॥१७॥

शब्दार्थ-

विमानवासी=कल्पवासी । थाय=होना । सम्यग्दर्शन=सच्ची श्रद्धा-देवशास्त्रगुरु के बारे में ठीक २ रुचि । चय=मरना । परिवर्त्तन=परिभ्रमण ।

अर्थ-

कदाचित् उसी (पूर्वोक्त) अकाम निर्जरा के फल से या दूसरे कारणों से कल्पवासी देव भी हो जाय तो बिना सम्यग्दर्शन के महान् दुःखी होना पड़ता है। और उस दुःख व आकुलता के फल से उसको वहांसे मरकर एकेन्द्री-पंच स्थावर होना पड़ता है। इस तरह सभी गतियों व योनियों में शरीर धारण कर २ के पंच परिवर्त्तन पूरे करना पड़ते हैं।

भावार्थ-

इस संसार में सुखको उपजावने वाला केवल सम्यग्दर्शन ही है। बिना सम्यग्दर्शन के सब निष्फल है। मिथ्यादृष्टि को न प्राप्तरूप संसार के पदार्थों में सुख-शान्ति मिलती है

और न पारलौकिक साधनों में, किन्तु वह सदैव चाह वश आकुलित-दुःखी रहता है। यहां तक कि उसको इन्द्र नरेन्द्र की भी विभूति तृप्ति उत्पन्न नहीं कर सक्ती और इसीसे वह सदा अत्यन्त दुःखी रहता है। हाँ उसमें वह सुख जरूर मान बैठता है याने उन पदार्थों (भोगोपभोग के साधनों) में वह सुखकी खोज करता है लेकिन दर असल में बात ऐसी है नहीं, कारण कि सुख-शान्ति आत्मा का धर्म है। इसलिये वह आत्मा में ही मिल सक्ता है पर पदार्थों में नहीं। किन्तु मिथ्यात्व (मोह) वश होकर उसको यह नहीं सूझता तब दुःखी होता है। क्योंकि पर-पदार्थ अपनी तबियत के अनुकूल कभी नहीं परिणम सक्के और नहीं परिणमने से उसको दुःख बना बनाया है, कारण कि उसमें उसको अपनायत-पना है न? अतएव मिथ्यादृष्टि तो वास्तव में सुखी है ही नहीं; मानन चाहे भले ही करले। रहा सम्यग्दृष्टि सो वह जरूर ही सुखी कहा जा सक्ता है और है, कारण कि उसको भेद विज्ञान हो जाने से कभी भी वह पर—पदार्थ में अपनायत बुद्धि नहीं करता। तब उसके अपने अनुकूल न परिणमने से वह दुःखी ही क्यों होगा! अरे जो चीज अपनी नहीं है उसमें सुख-दुख काहे का? इस तरह केवल आत्म-स्वरूप का चितवन करना ही उसका मुख्य काम है, उसीमें उसको सुख-शांति मिलती है, वही सुखशान्ति का खजाना है। अतएव उसे चाहे कर्मानुसार बाह्य—पदार्थ मिलो या न मिलो उनसे वह कभी सुखी-दुःखी नहीं हो सक्ता। बस इस तरह सुख दुःख का मूल कारण सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन ही है। ऐसी हालत में मिथ्यादर्शन का त्याग व सम्यग्दर्शन का ग्रहण

करना चाहिये। देखो मिथ्यात्व का माहात्म्य कि देवपर्याय से भी एकेन्द्री होना पड़ता है।

सारांश-

इस ढाल में निगोद (प्रथम स्थान) से लेकर अखीर-देव स्थान तक का क्रम से वर्णन किया गया है और सभी में दुःखों का दिग्दर्शन कराया है—सुख का नाम निशान तक नहा है। जिस पर्याय में देखो दुःख ही दुःख नजर आता है-वास्तव में आकुलता ही दुःख का कारण है। जब कि असीम विभूति और पराक्रम के धारी देव भी आकुलता (झूरना) वश दुःखी हैं तब जन—साधारण की क्या बात है। इसी कारण से पंच परावर्त्तन (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव. भाव,) अनंतवार पूरे करना पड़ते हैं। जिनका स्वरुप इस प्रकार है।

१ द्रव्यपरावर्त्तन-(परिभ्रमण)

इस लोक में जितने कर्म नोकर्म रूप पुद्गल परमाणुहैं. उनमें से जब एक भी ऐसा न बचे जो इस जीवने ग्रहण कर न छोडा हो उतने काल को एक द्रव्य—परावर्त्तन कहते हैं. परन्तु ग्रहण करने वा छोड़ने का क्रम ऐसा होना चाहिये कि-जिस सख्या, शक्ति और स्वभाव संयुक्त पुद्गल (कर्म नोकर्म) परमाणुओं को जीवने एकबार ग्रहण किया है उसी संख्या, शक्ति और स्वभाव संयुक्त पुद्गल परमाणुओं को लगातार अनंतवार-बीच में अगृहीत मिश्र गृहीत आदि चार प्रकार की पुद्गल परमाणुओं को क्रमपूर्वक ग्रहण करके—जब तक ग्रहण न करले तब तक उसका एक द्रव्यपरिवर्त्तन पूरा नहीं हो सक्ता और

कहीं बीच में क्रम—भंग हो गया तो वह गिन्ती में नहीं आवेगा। इस तरह संक्षेप में कहा, विशेष सर्वार्थसिद्धि गोम्मटसार जीव कांड में समझ लेना। हाँ इस परिवर्त्तन के कर्म नोकर्म के भेद से मूल में दो भेद हो जाते हैं। जिसमें कार्माण द्रव्य के ग्रहण करने वा छोड़ने का सम्बन्ध है वह कर्मद्रव्य परिवर्त्तन कहाता है और जिसमें नोकर्म—पुद्गल—परमाणुओं का सम्बन्ध है उसे नोकर्म द्रव्य—परिवर्त्तन कहते हैं।

२ क्षेत्र परिवर्त्तन।

जब कोई जीव मूल में सर्व—जघन्य—अवगाहना (सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक का शरीर) को, उसके प्रदेशों के बराबर (सूच्यँगुल के असंख्यातवें भाग—प्रमाण) धारण करके एकवार में एक प्रदेश की वृद्धि से लगातार-निरंतर बढ़ते २ अखीर में महामत्स्य की अवगाहना (१ हजार योजन की) को धारण करले तब उतने काल को एक स्वक्षेत्र परिवर्त्तन कहते हैं। तथा जब वही जघन्य-शरीर का धारी सूक्ष्म निगोदिया जीव अपने शरीर के आठ—मध्य—प्रदेशों को लोक के आठ—मध्यप्रदेशों (मेरु के नीचे) पर स्थापित करके जन्म लेवे व एक २ प्रदेश बाहिर फ़ैलते २ लोकाकाश के पूरे प्रदेशों में निरंतर जन्म—मरण करले उतने काल को पर—क्षेत्र परिवर्त्तन कहते हैं। इस तरह दोनों को मिलकर एक क्षेत्र—परिवर्त्तन होता है। इसमें बीच का क्रम-भंग शामिल नहीं होता।

३ काल परिवर्त्तन-

२० बीस कोड़ा—कोड़ी सागर प्रमाण—उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी के जितने समय हों उतनी वार क्रम—पूर्वक जन्म-

मरण धारण करने में जितना समय लगे उसको कालपरिवर्त्तन कहते हैं। परन्तु उसका क्रम (तरीका) यह है कि कोई जीव प्रथम उत्सर्पिणी के प्रथम समय में पहिलीवार जन्म लेकर आयु पूर्ण कर मरगया फिर अन्य २ जन्म धारण करके उस उत्सर्पिणी के काल को किसी तरह पूरा किया. बादमें दूसरी उत्सर्पिणी के आने पर उसके दूसरे समय में दूसरी बार जन्म धारण किया और मर गया. इस क्रम से जब वह जीव एक उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी के कुल समयों बराबर उसी क्रम से जन्म मरण करले उतने काल को कालपरिवर्त्तन कहते हैं।

४ भवपरिवर्त्तन–

नरकादिगति की जघन्य आयु लेकर उत्पन्न होना और पूर्ण कर मर जाना. फिर वही आयु लेकर पुन उत्पन्न होना व मर जाना. इस तरह इस जघन्य आयु के समयों बराबर लगातार निरंतर जन्म मरण करके बाद में एक २ समय बढ़ाकर उस गति की उत्कृष्ट आयु को प्राप्तकर उसे भी पूर्ण करना जब इस क्रम (तरीके) से चारों ही गतियों की जघन्य व उत्कृष्ट आयु पूर्ण हो जाय, उतने काल को एक भव–परिवर्त्तन कहते हैं।

५ भाव परिवर्त्तन–

श्रेणी के असँख्यातवें--भाग प्रमाण योग स्थानों के हो जाने पर एक अनुभाग बंधाध्यवसायस्थान होता है और असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों के हो जाने पर

एक कषायाध्यवसायस्थान होता है तथा असँख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसायस्थानों के हो जाने पर एक स्थिति स्थान होता है कारण कि योगस्थान १ अनुभाग बंधाध्यवसाय स्थान २ स्थितिबँधाध्यवसाय स्थान (कषायाध्यवसाय स्थान) ३ और स्थितिस्थान ४ इन चारों के निमित्त से भाव परि- वर्त्तन होता है । इस क्रम से ज्ञानावरण आदि समस्त मूल व उत्तर प्रकृतियों के समस्त स्थानों (पूर्वोक्त) के पूर्ण होने पर एक भाव—परिवर्त्तन होता है । सारांश यह कि प्रकृत्ति प्रदेश स्थिति और अनुभाग—बँध के भेद से बँध (कार्य) चार प्रकार का होता है और उसमें निमित्त (कारण) सिर्फ़ योग व कषाय दोनों ही हैं । अतएव प्रकृति व प्रदेश बंध को कारणभूत-आत्मा के प्रदेश परिस्पन्द रूप—योग के तरतम स्थानों को योगस्थान कहते हैं । और कषाय के जिन तरतम रूप स्थानों से अनुभाग बंध होता है उन्हें अनुभागबंधाध्य वसायस्थान कहते हैं । इसी तरह कषाय के जिन तरतम स्थानों से स्थितिबँध होता है उन्हें स्थितिबंधाध्यवसाय स्थान या कषायाध्यवसायस्थान कहते हैं । (कारण कि एक ही कषाय—परिणाम में दो कार्य करने का स्वभाव है एक स्वभाव अनुभागबँध का कारण है और दूसरा स्वभाव स्थिति बँध का कारण है) और बन्धरूप कर्म की जघन्यादि स्थिति को स्थितिस्थान कहते हैं । बस इन्हीं पर सब दारो—मदार है इनका विशेष बड़े ग्रन्थों से समझना यहाँ पर सिर्फ़ बालकों का उपयोगी हो सके उतना लिखा गया है ।

अथ दूसरी ढाल।

पद्धरिछन्द

नोट—इस ढाल में पेश्तर पूर्वोक्त चारों गतियों के भ्रमण का निदान—कारण बताते हैं फिर बाद में उसके त्याग करने का उपदेश देते हैं यथा—

एसे मिथ्या दृग ज्ञान चर्ण ।
वश भ्रमत भरत दुःख जन्म मर्ण ॥
तातें इनको तजिये सुजान ।
सुन तिन संक्षेप कहूं वखान ॥१॥

शब्दार्थ—

मिथ्यादृग = मिथ्यादर्शन--अतत्त्व श्रद्धान । ज्ञान = मिथ्याज्ञान-अतत्त्व पहिचान । चर्ण = मिथ्या चारित्र—अतत्त्व आचरण । वश = वशीभूत--आधीन होकर । भरत = उठाता । तजियें = छोड़िये । सुजान = बुद्धिमान्—ज्ञानी । वखान = वर्णन ।

अर्थ—

इस तरह (पूर्वोक्त) भ्रमण, यह जीव मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचरित्र के वशीभूत होकर करता

है और जन्म मरणके दुःख भोगता है। इसलिये भ्रमण और दुःख का निदान (आदि कारण) इन्हीं मिथ्या-दर्शनादित्रय को समझ बुद्धिमानों को इनका संग छोड़ देना चाहिये। आगे इन तीनों का स्वरूप संक्षेप से कहा जाता है सो सुनो यथा-

भावार्थ-

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मिथ्यादर्शनादित्रय ही संसार व दुःखों के मूल कारण हैं और इसीलिये सबसे पहिले उन्हीं के त्याग का उपदेश सर्वत्र दिया गया है। यद्यपि संसार के और भी बहुत से कारण है, परन्तु वे सब इनके सहायक या दास हैं ऐसा समझना चाहिये। अतएव पहिले मिथ्या-दर्शन का स्वरूप बताते हैं यथा—

जीवादि प्रयोजन-भूत तत्त्व।
सरधै तिन माहिं विपर्ययत्व॥

शब्दार्थ-

प्रयोजनभूत = मतलब के। तत्त्व = पदार्थ। सरधै = श्रद्धान-करना—रुचि लाना। विपर्ययत्व = विपरीतरूप।

अर्थ-

श्री जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये जीवादिक जो सात प्रयोजन भूत (मोक्ष मार्गोपयोगी) पदार्थ हैं,

उनका विपरीत रूप (उल्टा) श्रद्धान करना-मिथ्यादर्शन कहाता है ।

भावार्थ-

मिथ्या-दर्शनादि तीनों गृहीत और अगृहीत के भेद से दो किस्म के हैं । उनमें से पेश्तर यह अगृहीत मिथ्यादर्शन का स्वरूप बताया गया है । इसी तरह आगे मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र का भी स्वरूप बतावेंगे । गृहीत और अगृहीत में भेद सिर्फ इतना है कि अन्तरग कारण दोनोंका एक रहने पर भी वाह्य कारणों की विशेषता एवं अपेक्षा से दोनों जुदे२ नाम पडजाते हैं । हां कार्य (श्रद्धान करना) दोनों का एकसा है । तब प्रश्न होता है कि जीव-तत्त्व का विपरीत श्रद्धान क्या है ? इसका उत्तर—

चेतन को है उपयोग रूप ।
विनमूरति चिन्मूरति अनूप ॥
पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल ।
इनतें न्यारी है जीव चाल ॥
ताको न जान विपरीत मान ।

शब्दार्थ-

चेतन=जीव-आत्मा । उपयोग=ज्ञान दर्शन । रूप=स्वरूप । विनमूरति=अमूर्तिक-रूप रस गंध स्पर्श रहित ।

चिन्मूरति = चेतनाकार। अनूप = उपमारहित-अनुपमेय। पुद्गल = अजीव-पूरण गलन स्वभाववाला । नभ = आकाश । धर्म = चलने में सहायता देने वाला पदार्थ । काल = पदार्थोंकी हालत बदलने में सहायता देने वाला पदार्थ । न्यारी = जुदी । चाल = प्रवृत्ति-परिणमन। विपरीत = उल्टा—जैसा है नहीं वैसा । मान = मानना-समझना ।

अर्थ-

जीव का स्वरूप-ज्ञानदर्शनमय, रूप रस गंध स्पर्श रहित (अमूर्तिक) चेतनाकार एवं अनुपमेय (अनुपम) है। और उसका परिणमनभी पुद्गल आकाश धर्म अधर्म काल इन पांच-अजीव द्रव्यों (पदार्थों) से भिन्न है। अतएव उसकेखास स्वरूप और परिणमनको न पहिचान कर उल्टा समझना याने श्रद्धान में लाना-इसीका नाम जीव-तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है ।

प्रश्न—अजीव—तत्त्वका विपरीत श्रद्धान क्या है ?
इसका उत्तर—

कर-करै देहमें निज पिछान ॥३॥
मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव ।
मेरो धन गृह गोधन प्रभाव ॥
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन ।

बेरूप सुभग मूरख प्रवीन ॥४॥
तन उजपत अपना उपज जान ।
तन नशत आपको नाश मान ॥

शब्दार्थ—

निज = अपनी—आत्मा को । पिछान = पहिचान-कल्पना । रंक = दरिद्री--दीन । राव = राजा -प्रभावशाली । धन = रुपया पैसा । गृह = मकान वगैरह । गोधन = गाय भैंस वगैरह । प्रभाव = पराक्रम । सुत = लडका । तिय = स्त्री । सबल = बलवान दीन = निर्बल-कमजोर । बेरूप = कुरूप । सुभग = रूपवान्— सुन्दर । मूरख = शठ-कमअक्ल । प्रवीन = होशयार-पडित-विद्वान् । तन = शरीर । उपजत = उत्पत्ति होना । अपनी = आत्मा की । उपज = उत्पत्ति । जान = समझना मानना । नशत = नाश होना-मरण होना । आपको = आत्मा को । मान = मानना-समझलेना

अर्थ—

विपरीत श्रद्धान होने से ही—जड़ शरीर में चैतन्य आत्मा की कल्पना करना और इसीलिये मैं सुखी हूं मैं दुखी हूँ, मेरा धन दौलत है, मेरे महल मकानात हैं, मेरी गाय भैंसे, हाथी, घोड़ा, वगैरह हैं, मैं पराक्रमी शूरवीर हूं, मेरे लड़के बच्चे हैं, मेरी स्त्री है, मैं बलवान हूं, मैं कमजोर हूं, मैं कुरूप हूं, मैं रूपवान—सुन्दर हूं,

मैं मूर्ख-कमअकल हूं, मैं समझदार-विद्वान् हूं, शरीर के उत्पन्न होने से मैं उत्पन्न होता हूं, शरीरके नाश होने से मैं नष्ट होता हूं।—इत्यादि पर-पदार्थ में स्वकीय कल्पना होना अजीव-तत्त्वका विपरीत (उल्टा) श्रद्धान है।

प्रश्न—आस्रव तत्त्वका विपरीत श्रद्धान क्या है? इसका उत्तर-

रागादि प्रगट जे दुःख देन।
तिनही को सेवत गिनत चैन॥

शब्दार्थ-

रागादि=ममत्त्वभाव-मूर्छा परिणाम। प्रगट्=प्रत्यक्ष। गिनत=गिनना-मानना। चैन=आनन्द-सुख।

अर्थ-

पर-पदार्थ में, रागपरिणति (मूर्च्छाभाव) द्वेष परिणति जीव को प्रत्यक्ष दुःख देने वाली है क्योंकि हाथ के कँकण को दर्पण की जरूरत नहीं होती। ऐसी हालत में मिथ्यात्त्व के सम्बन्ध से उन्हीं रागादि को अपना२ कर आनन्द मानना आस्रव तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है।

भावार्थ-

यदि वास्तव में देखा जाय तो खाली पर-पदार्थ जीव

का कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं कर सक्ता न सुख दुख दे सक्ता है जब तक कि उसमें रागादि परिणति नही होती। यह बात सबको प्रत्यक्ष मालूम पडती है कि जिसकी जिसमें रागादिक रूप कल्पना नहीं है उसके अच्छे बुरे होने से उसको जरा भी सुख दुख व हर्ष-विषाद नहीं होता जैसे पड़ोसीके हानि लाभ से कोई मतलब नही है या मालिक के नफा नुकसान से गुमास्ता को कोई सरोकार या सुख दुःख नहीं है, किन्तु मालिक की अपनायत बुद्धि होने से बराबर वह सुख दुःख का अनुभव करता है। ठीक इसी तरह जिन पर-पदार्थों (स्त्री पुत्र धन दौलत वगैरह) में रागांश या द्वेषांश है उनके अन्यथा परिणमने से दिन-रात्रि झूरना चिन्ता सताती रहती है, जिससे यह जीव सरासर दुःखी होता है। इसलिये यह सिद्ध है कि राग दुःख का कारण है और विराग सुखका कारण है। तथा उन्हीं रागादिक से आस्रव होता है याने कर्म आते हैं और रागादिक के न होने (विराग भाव) से आस्रव नही होता। इसलिये रागादिक को आस्रव कहा है और आस्रव ससारका कारण है।

प्रश्न—बंधतत्त्व का विपरीत श्रद्धान क्या है? इसका उत्तर—

शुभ अशुभ बंधके फल मंझार।
रति अरति करे निज पद विसार॥

शब्दार्थ—

शुभ=प्रशस्त-पुण्य। अशुभ=अप्रशस्त-पाप। बंध=कर्म मंझार=विषै। रति=राग। अरति=द्वेष। पद=स्वरूप।

विसार=भूलाकर ।

अर्थ-

उसी मिथ्यात्त्वके उदय से-यह जीव अपने खास स्वरूप (ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य)को भुलाकर पुन्यकर्म के फल(साता सामग्री)में राग-इष्ट बुद्धि और पापकर्म के फल (असाता सामग्री) में द्वेष-अनिष्ट बुद्धि करता है बस यही बंधतत्त्व का विपरीत श्रद्धान है ।

भावार्थ-

जबकि मिथ्यात्त्व-कर्म के उदय से यह जीव निज स्वरूप को भूलकर पर-पदार्थ में अपनायत-बुद्धि करता है तब उस पर-पदार्थ के संयोग और वियोग में इष्टानिष्ट कल्पना भी करता है । अर्थात् पुण्यकर्म के उदय से जब जीव को साता सामग्री (सुयोग्य स्त्री पुत्रादि) मिलती है, तब उसमें इष्ट कल्पना होने से उसके संयोग पर्यन्त सुख व वियोग होनेपर दुःख का अनुभव करता है। व पाप कर्म के उदय से जब असाता सामग्री (अयोग्य स्त्री पुत्रादि) प्राप्त होती है, तब उसमें अनिष्ट कल्पना होने से उसके संयोग पर्यन्त दुःख व वियोग होने पर सुखका अनुभव करता है जोकि नितान्त अविवेकता है। बस इसी को बंधतत्त्व का विपर्यंय श्रद्धान कहते हैं। कारण कि रति-अरति करने योग्य पदार्थ (पुण्य-पापकर्म) में रति अरति न कर उल्टे उसके फल (कार्य) में रति अरति करता है. जिस तरह से कुत्ता लकड़ी मारने वाले पर गुस्सा न कर

लकड़ी पर गुस्सा कर चबाता है । और ऐसा होने से हर वक्त नया बंध होकर संसार बढ़ता है ।

प्रश्न—संवरतत्त्व का विपरीत श्रद्धान क्या है ? इसका उत्तर-

आतमहित हेतु विराग ज्ञान ।

तेलखे आपको कष्ट दान ॥६॥

शब्दार्थ-

हित = भलाई-सुख । हेतु = कारण । विराग = उदासीनता वीतरागभाव । ज्ञान = सम्यग्ज्ञान । लखे = देखना-समझना । कष्ट दान = दुखदायक ।

अर्थ-

आत्मा की भलाई (सुख) करने वाले वास्तव में वीतरागभाव याने सम्यकचारित्र और सम्यज्ञान है. परन्तु मिथ्यादर्शन के उदय से उनको उल्टा याने दुःख के देने वाले समझना-इसी को संवरतत्त्व का विपरीत श्रद्धान कहते हैं ।

भावार्थ-

वीतरागभाव और सम्यज्ञान से संवर (आस्रव का निरोध) होता है और संवर मोक्ष का कारण है । इसीलिये वे दोनों आत्मा की भलाई करने वाले कहे गये हैं । परन्तु उनको ऐसा न समझ उल्टा समझना संवरतत्त्व का विपरीत श्रद्धान करना

है-कारण कि उससे संसार होता है ।

प्रश्न—निर्जरातत्त्व का विपरीत श्रद्धान क्या है ? इसका उत्तर—

रोकी न चाह निज-शक्ति खोय ।

शब्दार्थ—

रोकी=छेकना-बंद करना । चाह=अभिलाषा-इच्छा । निजशक्ति=अपनी सामर्थ्य । खोय=नष्टकर ।

अर्थ—

इच्छा को रोकना—तप है (इच्छा निरोधस्तपः) किन्तु मिथ्यादर्शन के उदयसे अपनी उस तप करने की शक्ति को नष्टकर इच्छा को नहीं रोकना याने विषय सेवनादि की इच्छाको बराबर होने देना—निर्जरातत्त्वका विपरीत श्रद्धान है, कारण कि इच्छा के रोकने से तप होता है और तप निर्जराका कारण है (तपसा निर्जराच) ऐसा आगम में लिखा है । इस तरह निर्जरा के न होने से संसार बना बनाया है ।

प्रश्न—मोक्ष-तत्त्व का विपरीत श्रद्धान क्या है ? इसका उत्तर-

शिवरूप निराकुलता न जोय ।

शब्दार्थ—

शिवरूप=मोक्ष का स्वरूप । निराकुलता=आकुलता रहित जोय=देखना ।

अर्थ

उसी मिथ्यात्वके उदयसे-आकुलतारहित जो मोक्ष का स्वरूप है उसको नहीं देखना-नहीं पहिचानना, सो मोक्ष-तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है ।

तात्पर्य-

यह कि मिथ्यात्व रूपी डाँक के लगने से उपर्युक्त सातों तत्त्वो के स्वरूप एवं श्रद्धान में विपरीतता उत्पन्न हो जाती है जिससे कि वे सातों ही तत्त्व मोक्षोपयोगी न रहकर उल्टे संसारोपयोगी हो जाते हैं । इसलिये सब से पहिले उस मिथ्यात्व के ही छोडने की कोशिश करना चाहिये यही आचार्यों का उपदेश है । यह मानी हुई बात है कि श्रद्धान (मूल) उल्टा होने से ज्ञान और आचरण नियम से उल्टा हो जाता है । बस उस उल्टे श्रद्धान ज्ञान और आचरण को ही-मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र कहते हैं । फिर वे तीनों ही अगृहीत और गृहीत के भेद से दो २ तरह के होते हैं । अभी जिसका वर्णन किया गया है वह अगृहीत मिथ्यादर्शन है । गृहीत का वर्णन आँगे होगा ।

प्रश्न—अगृहीत मिथ्याज्ञान किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान ।
सो दुःखदायक अज्ञान ज्ञान ॥७॥

शब्दार्थ-

याहो = उपर्युक्त । प्रतीति = श्रद्धान- यकीन । जुत = सहित कछुकज्ञान = कुज्ञान-जो कुछ ज्ञान । अज्ञान = मिथ्याज्ञान-ज्ञान नहीं, जड़पदार्थ सरीखा । जान = समझ ।

अर्थ--

ऊपर कहे हुए-विपरीत श्रद्धान (मिथ्यादर्शन) संयुक्त जो कुछ भी ज्ञान या कुज्ञान है वही दुःख का देने वाला अगृहीत मिथ्याज्ञान समझो ।

भावार्थ--

ज्ञान का काम है पदार्थों का यथार्थ बोध कराना; परन्तु जब मिथ्यादर्शन के सम्बन्ध से वह विपरीतता धारण करता है तब ठीक २ बोध नहीं कराता. इसलिये उस हालत में वह मानिन्द जड-पदार्थ के है क्योंकि अज्ञान की अपेक्षा दोनों एक सरीखे हैं । बस ऐसे ही ज्ञान को अगृहीत मिथ्या ज्ञान कहते हैं कारण कि वह किसी के उपदेशादिक से नहीं होता है । और उससे सुख शाँति भी नहीं मिलती इसलिये वह दुःख का देने वाला कहा जाता है ।

प्रश्न—अगृहीत मिथ्याचारित्र किसे कहते हैं ?—इसका उत्तर-

इनजुत विषयन में जो प्रवृत्त ।

ताकों जानों मिथ्या-चरित्त ॥

शब्दार्थ-

इन = मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान । विषयन = पंचेन्द्रियव मनके भोगोपभोग । प्रवृर्त्त = प्रवृत्ति-प्रवेश । मिथ्याचरित्त = मिथ्याचारित्र-विपरीत आचरण ।

अर्थ-

पूर्वोक्त-मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान, संयुक्त होकर पंचेन्द्रिय और मनके विषयों (भोगोपभोगों) में प्रवेश करने को अगृहीत मिथ्याचारित्र कहते हैं।

अवशिष्ट-

यों मिथ्यात्त्वादि निसर्गजेह ।
अबजेगृहीत सुनिये जुतेह ॥

शब्दार्थ-

यों = इस प्रकार-पूर्वोक्त । मिथ्यात्त्वादि = मिथ्यादर्शनादित्रय । निसर्ग = स्वाभाविक-अगृहीत । गृहीत = परनिमित्त से हुए-नैमित्तिक । तेह = उनको ।

अर्थ--

इस तरह (पूर्वोक्त रीति)से अगृहीत मिथ्यादर्शनादि तीनोकों कहा है। अब आंगे गृहीत मिथ्यादर्शनादि को कहते हैं सो सुनो।

प्रश्न—गृहीत-मिथ्यादर्शन किसे कहते हैं ? इसका उत्तर-

जे कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव ।
पोषें चिर दर्शन मोह एव ॥

शब्दार्थ-

जे=जो कोई-सर्वनाम । कुगुरु=खोटे गुरू । कुदेव=खोटे देव । कुधर्म=खोटे धर्म । सेव=सेवा करना-प्रतीति लाना । पोषें=पुष्ट करें । चिर=बहुतकाल । दर्शनमोह=मिथ्यादर्शन । एव=ही ।

अर्थ-

जो कोई कुगुरु-कुदेव-कुधर्म,की सेवा करते हैं याने उनमें प्रतीति (यकीन-विश्वास) लाते हैं; वे मानो अपने मिथ्यादर्शनको ही चिरकालसे पुष्ट कर रहे हैं। सारांश यह कि, कुगुरु-कुदेव-कुधर्म,के सेवन करनेको ही गृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

प्रश्न—कुगुरु किन्हें कहते हैं ? इसका उत्तर—

अंतर रागादिक धरें जेह ।
बाहिर धन अंतर तें सनेह ॥६॥
धारें कुलिंग लहि महत भाव ।
ते कुगुरु जनम-जल-उपलनाव ॥

शब्दार्थ–

अन्तर=भीतर-आत्मा में । रागादिक=रागद्वेष आदि अठारह दोष । बाहिर=दृष्टिगोचर-प्रत्यक्ष । अंबर=वस्त्र-कपड़ा । सनेह=मुहब्बत-प्रेम । कुलिंग=खोटा वेष । लहि=पाने । महतभाव=महंतपना-बड़प्पन । उपल=पत्थर । नाव=नौका-जहाज ।

अर्थ–

जो लोग अन्तरंग आत्मामें रागादिक विकार-भावों (दोषों) को रखते हैं और बाह्य-प्रत्यक्ष में रुपया पैसा हाथी घोड़ा पशु पक्षी वगैरह व कपड़ा लत्ता आदिक विविध परिग्रहसे प्रेम(आसक्तता)करते हैं तथा महन्तपना चाहने की गरज से तरह २ के वेष (स्वांग) बनाते हैं उनको कुगुरु (पाखंडी) कहते हैं । और वे जीवन (आयुष्य) के लिये जलमें चलने वाली पत्थर की नाव के समान हैं । अर्थात् जिस तरह पत्थर की नाव स्वयं डूबती हुई बैठने वालोंको डुबा देती है; उसी तरह वेषी कुगुरुओं की सेवा उपासना करने वाले भक्तों का जीवन व्यर्थमें नष्ट होता है और वे पाखंडी कुगुरु तो स्वयं नष्ट होते ही हैं । अतएव उनकी उपासना छोड़ देना चाहिये ।

प्रश्न—कुदेव किन्हें कहते हैं, व उनके सेवन से क्या होता है ? इसका उत्तर—

जे राग-द्वेष मलकर मलीन ।
बनिता गदादि जुत चिह्न चीन ॥१०
ते हैं कुदेव, तिनकी जुसेव ।
शठ करत न तिन भव-भ्रमन छेव ।

शब्दार्थ-

मलीन=मैले-अपवित्र । बनिता=स्त्री । गदा=हथयार चीन=पहिचान । शठ=मूर्ख । भव=संसार । भ्रमन=घूमना इधर से उधर जाना । छेव=अन्त-समाप्ति ।

अर्थ-

जो रागद्वेष रूपी मैल कर मैले (अपवित्र) हैं और स्त्री हथयार आदि चिन्हों से जिनकी पहिचान होती है उनको कुदेव कहते हैं। ऐसे कुदेवोंकी जो मूर्ख-उपासना करते हैं उनके संसारमें घूमने का कभी अन्त नहीं होता अर्थात् अनन्त काल तक उन्हें संसारमें घूमना पड़ता है

प्रश्न—कुधर्म किसे कहते हैं व उसके धारण करने से क्या फल होता है ? इसका उत्तर—

रागादि भाव—हिंसा समेत ।
दर्वित त्रसथावर मरन खेत ॥११॥
जे क्रिया तिन्हें जानहु कुधर्म ।

तिस सरधें जीव लहें अशर्म ॥

शब्दार्थ-

भावहिंसा = अन्तरंग-भावप्राणों का विघात । समेत = सहित । दर्वित = द्रव्यहिंसा—बाह्य द्रव्यप्राणों का विघात । खेत = क्षेत्र-ठिकाना । सरधें = श्रद्धान करनें । लहें = पावें । अशर्म = अकल्याण-दुःख ।

अर्थ-

रागादिकरूप भावहिंसा और त्रस-स्थावर जीवों का जिसमें विनाश हो ऐसी द्रव्यहिंसा, इन दोनों ही हिंसाओं कर सहित जितनी क्रियाएं हैं उन सबको कुधर्म कहते हैं। और उस कुधर्म को धारण करने वाले जीव सदैव दुःखी रहते हैं याने कभी भी सुखको नहीं पाते।

भावार्थ--

रागादिक विभाव—भाव इसीलिये हिंसा (भाव हिंसा) हैं कि उनसे आत्मा के अनुजीवी गुण—ज्ञानदर्शनादिक (जो सदैव साथ रहते हैं) घाते जाते हैं। जब किसी पर क्रोध वगैरह करते हैं तब आत्मा का ज्ञान पहिले नष्टसा हो जाता है वही भाव-हिंसा है। बाद में शरीर इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणों का जो विघात होता है वह द्रव्यहिंसा है। सो जिस क्रिया—कांड व आडम्बर में दोनों तरह की हिंसा हो वही कुधर्म कहलाता है—उसके धारण करने से सदैव अकल्याण होता है।

खुलासा--

जिनके विषयों की आकाँक्षा नहीं है और जो आरंभ एवँ परिग्रह से रहित हैं तथा ज्ञान ध्यान और तप में लवलीन हैं वे सुगुरू कहलाते हैं। और इनसे जो विरुद्ध हैं याने जिनके पास विपय-सामग्री मौजूद है, जो खुलासां तौर पर ऐश-आराम में मस्त हैं. वाह्य आडम्बर का जिनके ठिकाना नहीं है. नाममात्र को ज्ञान ध्यान और तप पाया जाता है वे कुगुरू कहलाते हैं (जटाधारी व द्रव्यलिंगी वगैरह) इसी तरह—जो वीतराग हो सर्वज्ञ हो और हितोपदेशी हो उसको सुदेव कहते हैं। और जिसमें ये असाधारण तीन गुण न पाये जाते हों उसको कुदेव कहते हैं, याने जो सरासर रागद्वेष सहित है (जरासी नाराजी पर आग बबूला हो जाते हैं) और स्त्री हथयार आदि को अपने अंग में धारण किये हुए हैं और भी विपरीतपना जिनके पाया जाता है वह सब कुदेव हैं (अन्यमती)। तथा—जिसमें पाखंड और हिंसा का लेश नहीं हो और जो संसारी जीवों को दुःख से छुटाकर उत्तम सुख में पहुंचाता हो वह सुधर्म है। और जिसमें ये बातें न पाई जाती हों वह कुधर्म है, याने जो पद २ पर द्रव्य और भाव हिंसा से (वलि व क्रोधादि से) भरा हुआ है (हिंसा को ही जहां धर्म माना गया है) व छल कपट एवं मिथ्यात्व आचरण का पिंड है वही कुधर्म है। इस प्रकार संक्षेप में कहे गये—कुगुरु-कुदेव-कुधर्म के सेवन से संसार बढ़ता है और नाना योनियों में जन्म-मरण होने से अनन्त दुःख उठाना पड़ते हैं। अतएव सच्चे देव, सच्चे गुरु, व सच्चे

धर्म, को छोड़कर स्वप्न में भी दूसरों का सेवन नहीं करना चाहिये । नहीं तो गृहीत—मिथ्यादर्शन पुष्ट होता है ।

अवशिष्ट ।

याको गृहीत-मिथ्यात्त्व जान ।
अबसुन-गृहीत जो है कुज्ञान ॥१२॥

शब्दार्थ—

याको=इसको । मिथ्यात्व=मिथ्यादर्शन । कुज्ञान=मिथ्याज्ञान ।

अर्थ—

पूर्वमें कहे हुए कुगुरु आदि तीनों के श्रद्धान को ही गृहीत–मिथ्यादर्शन कहते हैं । आगे अब गृहीत–मिथ्या ज्ञान को कहते हैं सो सुनो ।

प्रश्न—गृहीत—मिथ्याज्ञान किसे कहते है ? और उससे क्या होता है ? इसका उत्तर—

एकान्तवाद दूषित समस्त ।
विषयादिक पोषक अप्रशस्त ॥
कपिलादि रचित श्रुत को अभ्यास ।
सो है कुबोध बहु देन त्रास ॥३॥

शब्दार्थ-

एकान्तवाद=एकधर्म (पक्ष) को कहने वाला याने पुष्ट करने वाला । दूषित=कलंकित-दोषसहित । समस्त= सम्पूर्ण । पोषक=पुष्ट करने वाला । अप्रशस्त=प्रशंसा करने लायक नहीं । कपिलादि=अन्यमती गुरु । रचित=बनायेगये । श्रुत= शास्त्र । अभ्यास=पढ़ना । कुबोध=मिथ्याज्ञान । त्रास=दुःख ।

अर्थ--

सर्वथा एक पक्ष का कथन करने से कलंकित और विषय-कषाय का पुष्ट करने से अप्रशंसनीय-ऐसे कपिल आदि अन्यमती गुरुओं के द्वारा बनाए गये शास्त्र को श्रद्धापूर्वक पढ़ना-मनन करना, गृहीत मिथ्याज्ञान कह-लाता है कारण कि वह बहुत दुःख का देने वाला है ।

भावार्थ-

प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्मों (पक्षों) से भरा हुआ है. कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं मिल सक्ता; जिसमें खाली एक ही धर्म पाया जाता हो। ऐसी परिस्थिति में किसी एक धर्म को देखकर सर्वथा उसी रूप पदार्थ को समझ लेना और वैसा ही निरूपण करने लगना निरा मिथ्याज्ञान है । जैसे पदार्थ सर्वथा नित्य है, सर्वथा अनित्य है इत्यादि । इसलिये जिन शास्त्रों में एकान्त (एक धर्म) भरा हुआ है उन शास्त्रों का रुचिपूर्वक पठन-पाठन, गृहीत-मिथ्याज्ञान अवश्य है और उससे महान् दुःख होना संभव है । अतएव ऐसे शास्त्रोंका

पठन-पाठन कतई छोड देना चाहिये; जिससे विषय-कषाय पुष्ट न हो सकें न संसार बढ़े ।

प्रश्न—गृहीत-मिथ्याचारित्र किसे कहते हैं ? इसका उत्तर-

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह ।
धर करत विविध विध देह दाह ॥
आतम अनातम के ज्ञान हीन ।
जे जे करनी तन करत छीन ॥१४॥
ते सब मिथ्याचारित्र, त्याग-।

शब्दार्थ-

चाह = अभिलाषा-इच्छा । विविध = नाना । विध = प्रकार अनात्म = अजीव । ज्ञान हीन = ज्ञान रहित । करनी = क्रियाएं तन = शरीर । छीन = दुर्बल-कमजोर ।

अर्थ-

संसार में नामवरी धनादिक की प्राप्ति एवं प्रतिष्ठा सत्कार पाने की गरज से जीव अजीव का ज्ञान न होने पर भी जो तरहतर की ऐसी क्रियाएं की जातीं हैं जिनसे कि शरीर दुर्बल और बेकाम होजाता है; उसको गृहीत मिथ्याचारित्र कहते हैं । उसका त्याग करना चाहिये ।

भावार्थ–

लोक में नामवरी धन-दौलत प्रतिष्ठा—सत्कार आदि पानेके लालच में पड़कर कितने ही जीव योग्यता न रहने पर भी मानादि-कषाय के तीव्र उदय से अशक्य काम भी कर वैठते हैं; जिससे पीछे नीचा देखना पड़ता है लोक में हंसी होती है और शरीर कमजोर हो जाने से किसी भी काम के नही रहते । लेकिन यह हठकार्य बहुधा अज्ञानी जीवोंका है जिन्हें कि जीव अजीव आदि पदार्थों का यर्थाथ—वोध नहीं है । शास्त्र की आज्ञा है कि हरएक कार्य श्रद्धा और शक्ति (योग्यता) के माफिक होना चाहिये, तभी उसमें सफलता मिलती है, नही तो कोरा आडम्बर भार रूप है, उससे उल्टा नुकसान होता है । ऐसे काम चाहे जैनमत के हों या अन्यमत के, सभी मिथ्या है । अतएव उनका त्याग करना ही श्रेयस्कर है जीवों को सदैव विवेक से काम लेना चाहिये ।

अवशिष्ट–

अब आतम के हित-पंथ लाग ॥
जग जाल भ्रमन को देय त्याग ।
अब 'दौलत' निज आतम सुपाग ।

शब्दार्थ–

हित-पंथ = कल्याण का मार्ग । जगजाल = संसार का फंसाव । सुपाग = अच्छी तरह लगना-रमण करना ।

अर्थ-

गृहीत मिथ्याचारित्रका त्याग करके आत्मकल्याण के मार्ग में लगना चाहिये । तथा ससारके फँसाव (दंद फंद-उलझन) और भ्रमणको त्याग कर अपनी आत्मा में रमण (क्रीड़ा)करना चाहिये-ऐसा पं० दौलतरामजी का कहना है ।

साराँश-

दूसरी ढाल में चतुर्गति के भ्रमण व दुःखों का निदान तथा सातों-तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान और कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, का स्वरूप व गृहीत अगृहीत के भेद से मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र का वर्णन, विशद रूप से किया गया है । अखीर में आत्मा के लिये थोडीसी शिक्षा भी दी गई है । इस तरह दूसरी ढाल समाप्त होती है ।

---

* अथ तीसरी ढाल *

नरेन्द्रछन्द [जोगीरासा]

नोट—दूसरी ढाल के अन्तमें कहे हुए "अब आतम के हित पंथ लाग" इस चरण के अनुसार पेश्तर इस ढाल में, आत्मा का हित बताकर पीछे उस हितमें जीव कैसे लग सका है? इसका खुलासा किया जायगा। फिर छह द्रव्य, सात तत्त्व सम्यक्तके आठ अंग, पच्चीस दोष, सम्यग्दर्शन की उत्कृष्टता व माहात्म्य आदि का वर्णन किया जायगा।

प्रश्न—आत्मा का हित क्या? इसका उत्तर—

आतम को हित है सुख,

अर्थ—

आत्मा का हित (कल्याण) सुख है। क्योंकि स्वभाव से सभी उसको चाहते हैं। इससे यह भी मालूम होता है कि वह सुख आत्मा का धर्म है।

प्रश्न—सुख किसको कहते हैं (सुखका लक्षण क्या है) इसका उत्तर—

सो सुख—आकुलता बिन कहिये।

शब्दार्थ—

आकुलता = तृष्णा-शल्य-व्यग्रता--माया-लालसा--संक्लेशता चिंता आदि ।

अर्थ-

जिसमें किसी तरहकी आकुलता-तृष्णा नहीं है उस को सुख कहते हैं ।

भावार्थ--

आकुलता के बराबर दूसरी व्याधि नहीं है. चाहे कितनी भारी विभूति व आज्ञा ऐश्वर्य क्यों न हो; पर थोड़ीसी आकुलता-शल्य के रहने पर वह सब किरकिरा है, उस में जरासा भी मजा व स्वाद नहीं आता बल्कि हरदम उसीकी तरफ चित्त जाता है । जिस तरह बड़े भारी शरीर में भी छोटीसी फाँस आंसती है-चुभती है और जब तक वह नहीं निकल जाती तबतक चैन नहीं मिलती न किसी काम में चित्त लगता है । ठीक उसी तरह यह आकुलता-शल्य (फांस) है जब तक इसका आत्मा के साथ सम्बन्ध है तब तक बराबर दुःख है-सुखका अनुभव एक क्षण भर को भी नहीं होता । ऐसी हालत में आकुलता का अभाव ही सुख है व आकुलता का सद्भाव ही दुःख है. बाकी और कोई ऊपरी सुख दुःख नहीं है यह नियम है । यों तो आकुलता का अस्तित्व जब तक मोह कर्म है तब तक है; परन्तु उसकी मन्दता जरूर तत्त्व विचार, शास्त्राध्ययन, सत्संगति, सदाचार आदि से होती है । इसीलिये, श्रेष्ठ पुरुष उत्तम २ कामों को करते हैं और जिन कामों से आकुलता बढ़ती है उन्हें छोड़ते हैं उनमें स्वप्न में भी नहीं पड़ते । मतलब यह कि जिसमें किसी तरह की आकुलता नहीं है वही सुख है और वह सुख आत्माका खास धर्म है ।

प्रश्न—आकुलता कहाँ नहीं है ? इसका उत्तर—

आकुलता शिव माहिं न-

शब्दार्थ-

शिवमाहिं=मोक्ष के विषें या मोक्षोपयोगी संसार के कार्मों में ।

अर्थ-

आकुलता रूपी व्याधि मोक्षके विषें या जिन कारणों से मोक्ष होता है उनमें(सम्यग्दर्शनादि रूप मोक्ष मार्ग में) नहीं है ।

प्रश्न—तब क्या करना चाहिये ? इसका उत्तर—

तातें, शिव मग लाग्यो चहिये ॥

शब्दार्थ-

तातें=इसलिये-तिस कारण से । शिवमग=मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शनादित्रय । लाग्यो=लगना-जुटना ।

अर्थ-

जबकि मोक्ष व उसके मार्ग में आकुलता नहीं है-तब उचित है कि उसी मोक्ष मार्ग में लग जाय जिससे कि वह आकुलता रहित स्थान (मोक्ष) मिल सके ।

प्रश्न—मोक्ष मार्ग क्या है और वह कितने तरह का है ? इसका उत्तर—

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन शिव-
मग, सो द्विविध विचारो ।

शब्दार्थ-

सम्यग्दर्शन = सच्चा श्रद्धान-यथार्थ विश्वास—यकीन । चरन = चारित्र । शिवमग = मोक्षमार्ग । द्विविध = दो तरह । विचारो = कहा ।

अर्थ-

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र, इन तीनों का समुदाय (एका) ही मोक्ष मार्ग है । और वह मोक्ष मार्ग दो तरह का कहा है । याने उस मोक्षमार्ग के दो भेद हैं ।

प्रश्न—अच्छा बताओ वे दो भेद कौन २ से हैं ? इसका उत्तर—

जो सत्यारथ रूप सुनिश्चय ।
कारण सो व्यवहारो ॥ १ ॥

शब्दार्थ-

सत्यारथरूप = वास्तविक-यथार्थ स्वरूप । निश्चय = निखालिस-मिलावट रहित शुद्ध । कारण = हेतु-प्रयोजक । व्यवहारो = व्यवहार स्वरूप-मिलावटी अशुद्ध ।

अर्थ-

मोक्ष मार्ग के निश्चय और व्यवहार ये दो भेद हैं ।

उनमें से निश्चय तो वह है जो सत्यार्थरूप(वास्तविक)है याने जिसमें उपचार या मिलावट का लेश नहीं है-शुद्ध स्वरूप है और जो उस निश्चय का कारण है (अशुद्ध है) वह व्यवहार मोक्षमार्ग है ।

भावार्थ—

हरएक पदार्थ का कथन निश्चय और व्यवहार के भेद से दो तरह का होता है । इसका कारण यह है कि पदार्थ ज्ञान और शब्द इन दो का विषय होता है । इसलिये जब पदार्थ को ज्ञान विषय कर रहा है तब वह निर्विकल्प रूप शुद्ध—स्वरूप भासमान (प्रतीत) होता है याने जैसा उस पदार्थ का खास स्वरूप है वैसा ही ज्ञान में झलकता है· इसलिये वह तो निश्चय स्वरूप है । और जब वही पदार्थ शब्द का विषय होता है याने जब उसको शब्द से कहते है तब वह व्यवहार स्वरूप है, कारण कि शब्द में इतनी ताकत नहीं कि वह पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को कह सके । इसलिये उस दशा में वह प्रायः पदार्थ को अशुद्ध ही बतलायगा । हाँ इतना जरूर है कि वह अशुद्धता पदार्थ की शुद्धता से ताल्लुक रखती है । बस उसी का नाम व्यवहार है । सो यहाँ पर निश्चय और व्यवहार में कार्य-कारण भाव बताया है याने निश्चय कार्य है और व्यवहार उसका कारण है । निश्चय का दूसरा नाम मुख्य है और व्यवहार का दूसरा नाम गौण है । इस तरह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यकचारित्र तीनों ही निश्चय और व्यवहार के भेद से दो २ तरह के होते हैं ।

प्रश्न—निश्चय सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ? इसका उत्तर

परद्रव्यन तें भिन्न आप में.
रुचि सम्यक्त्व भला है ।

शब्दार्थ-

परद्रव्यन=दूसरी द्रव्यें-पर पदार्थ । रुचि=प्रीत । भला=अच्छा-निश्चय ।

अर्थ-

पुद्गलादिक पांच-पर पदार्थों से पृथक केवल-अपने शुद्ध स्वरूप में रुचि-प्रीति अथवा विश्वास होने को ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

भावार्थ-

जीवादिक छहों द्रव्यें आपस में मिली हुई हैं । इसलिये जिस वक्त अन्य सब द्रव्यों को छोडकर एकाकी आत्मा (जीव) का अवभास (बोध) होने लगता है या यों कहिये कि उस शुद्ध आत्मा में रुचि होने लगती है—समझ लेना चाहिये कि उस वक्त उस आत्मा में विशेष गुण (सम्यग्दर्शन) प्रकट हो गया है । बस वही (विशेष गुण) निश्चय सम्यग्दर्शन है जोकि दर्शन मोहके उपशमादिक से होता है ।

प्रश्न—निश्चय सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं ? इसका उत्तर-

आप रूपको जानपनो सो·
सम्यग्ज्ञान कला है॥

शब्दार्थ-

आपरूप = निजस्वरूप । जानपनो = जान लेना-ज्ञान होजाना सम्यग्ज्ञान = सच्चाज्ञान-यथार्थ बोध । कला = विद्या-गुण-अंश ।

अर्थ-

पूर्वोक्त-पर द्रव्यों से भिन्न होकर केवल (खाला) निज स्वरूप को जान लेना ही निश्चय सम्यग्ज्ञान रूपी विद्या या गुण है। इसमें भी परपदार्थ (अशुद्धता) की लगार नहीं रहती प्रत्युत-शुद्ध स्वर्ण की तरह जाज्वल्य-मान होता है।

प्रश्न—निश्चय सम्यक्‌चारित्र किसे कहते हैं ? इसका उत्तर-

आपरूप में लीन रहे थिर-
सम्यक्‌-चारित सोई ॥

शब्दार्थ-

लीन = मग्न-रमण। थिर = स्थिर-निश्चल। सम्यकचारित = । यथार्थआचरण-निश्चय सम्यकचारित्र । सोई = वही ।

अर्थ-

उन्हीं उपर्युक्त पर-द्रव्यों से पृथक रहते हुए-निज स्वरूप में निश्चल होकर मग्न होनेको ही-निश्चय सम्यक्-कचारित्र कहते हैं।

भावार्थ-

निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र में विशेषता यही है, कि उन तीनों में पर-द्रव्यसे सर्वथा पृथकपना रहता है सिर्फ आत्मामात्र से ताल्लुक है। अतएव यह अर्थतः सिद्ध (ध्वनित) होता है कि व्यवहारमें पर-पदार्थ की लगावट (अशुद्धता) है और निश्चय में पर पदार्थ की लगावट है नहीं। इसलिये निश्चय शुद्ध और व्यवहार अशुद्ध है।

अवशिष्ट—

अब व्यवहार मोक्ष-मग कहिये।
हेतु नियत को होई ॥२॥

शब्दार्थ-

मोक्षमग=मोक्षमार्ग। नियत=निश्चय। होई=होता है।

अर्थ--

अब (निश्चयके बाद) व्यवहार मोक्ष-मार्गको कहते हैं जो कि निश्चय का कारण है। वह भी व्यवहार सम्यग्दर्शनादि के भेद से तीन तरह का है।

प्रश्न - व्यवहार सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ? इसका उत्तर-

जीव अजीव तत्त्व अरु आस्रव,
बंधरु संवर जानो।

निर्जर मोक्ष कहे जिन; तिनको--
ज्यों का त्यों सरधानो ।
है सोई समकित व्यवहारी--

शब्दार्थ--

निर्जर = कर्मों का एकदेश (थोडा२) क्षय होना। मोक्ष = कर्मों का बिलकुल अभाव होना। समकित = सम्यग्दर्शन । व्यवहारी = व्यवहार ।

अर्थ--

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, इन सात तत्त्वों का यथार्थ (जैसा का तैसा) श्रद्धान करने को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अवशिष्ट--

अब इन रूप बखानो ।
तिनको सुन सामान्य विशेषै,
दृढ़ प्रतीति उर आनो ॥

शब्दार्थ--

सामान्य = अभेद-द्रव्यापेक्षा । विशेषै = भेद-पर्यायापेक्षा । दृढ़ = निश्चल-अकंप-पक्का । प्रतीति = श्रद्धान-यकीन । उर = हृदय । आनो = लाना ।

अर्थ-

अब उन(उपर्युक्त)सातों तत्त्वोंका वर्णन, सामान्य और विशेष रीति से किया जाता है; जिसको सुनकर अपने हृदय में पक्का विश्वास लाना चाहिये ।

भावार्थ--

ग्रन्थकार उपर्युक्त सातों ही तत्त्वो का कथन द्रव्यार्थिक (सामान्य) और पर्यायार्थिक (विशेष) नय की अपेक्षा से करना चाहते है । कारण कि द्रव्यार्थिक नय वस्तु के अखंड पिंड को बतलाता है और पर्यायार्थिक नय उसी अखड पिंड को खंड २ करके बतलाता है । ऐसी हालत में हरएक वस्तु के अंश, पर्याए-हालतें व अंशी-अखड द्रव्य, जानना जरूरी है और कथन करने की यह शैली भी है। हाँ यह जरूर है कि जब एक (द्रव्य या पर्याय) को मुख्य करते है तब दूसरे को गौण कर देते है अन्यथा कभी अभीष्ट सिद्धि हो ही नहीं सकती इसलिये हालांकि यहाँ जीव-तत्त्व का वर्णन उपर्युक्त क्रमसे होने का प्रसग है किन्तु दूसरी ढाल में 'चेतन को है उपयोग रूप' इस वाक्य के अनुसार साधारणतः जीव तत्त्व-का लक्षण (सामान्य) बता चुके ह, अब सिर्फ उसके भेद (विशेष) हा बताना बाकी है सो नीचे विस्तार के साथ बताते हैं फिर भी उनका नामनिर्देश कर देना जरूरी है । याने जीव—तत्त्व के-बहिरात्मा, अन्तरआत्मा और परमात्मा ऐसे तीन भेद हैं।

प्रश्न—बहिरात्मा किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

देह जाव को एक गिने-
वहिरातम तत्त्व मुधा है ।

शब्दार्थ-

एक = अभिन्न । गिने = समझना । मुधा = मूर्ख-मिथ्यादृष्टि ।

अर्थ--

जो आत्मा और शरीर को अभिन्न समझता है वह वहिरात्मा कहलाता है, इसी का दूसरा नाम मूर्ख या मिथ्यादृष्टि है-ग्रंथान्तरों में इसके विपरीत वादी आदि ५ भेद व ३६३ भेद बताये गये हैं सो समझ लेना ।

प्रश्न—अन्तर आत्मा किसे कहते हैं व उसके कितने भेद है ? इसका उत्तर—

उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के-
अन्तर-आतम ज्ञानी ।

शब्दार्थ-

उत्तम = उत्कृष्ट-शिखरस्थ-सिद्ध । मध्यम = बीच वाले-अर्हन्त । जघन = अखीर वाले-आचार्य वगैरह सम्यग्दृष्टि पर्यन्त । त्रिविध = तीन तरह । ज्ञानी = भेद ज्ञान वाले ।

अर्थ-

जो शरीर व आत्मा को भिन्न २ समझते हैं । वे

अन्तर-आत्मा कहलाते हैं। उस अन्तर-आत्माके उत्तम मध्यम व जघन्य ऐसे तीन भेद हैं ।

भावार्थ-

बहिरात्मा, शरीर व आत्माको जुदा नहीं समझता प्रत्युत एक मानता है और अन्तर-आत्मा दोनोंको जुदा २ समझता है क्योंकि वह ज्ञानवान् और विवेकी है इसलिये विवेक से वह विचारता है कि जीवका लक्षण 'चैतन्य' है और शरीर का लक्षण 'जड' है फिर दोनों एक कैसे हो सक्ते हैं ? कदापि नहीं । इस तरह का दोनों में खास भेद पाया जाता है । याने बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि होता है और अन्तर-आत्मा सम्यग्दृष्टि-ऐसा समझो ।

प्रश्न—उत्तम अन्तर-आत्मा किसे कहते हैं ? इसका उत्तर-

द्विविध संग विन शुध--उपयोगी ।
मुनि उत्तम निज--ध्यानी ॥

शब्दार्थ-

द्विविध=दो तरह (अन्तरग व बाह्य) । संग=परिग्रह शुध=शुद्ध-शुभ व अशुभ से रहित । उपयोगी=उपयोग वाले मुनि=महाव्रती-सातवें आदि गुणस्थान वाले । निजध्यानी= आत्मध्यानी ।

अर्थ-

अन्तरंग और बहिरंग के भेदसे दो तरहके परिग्रह

से रहित अतएव आत्मध्यान में लवलीन(तत्पर) और शुद्ध उपयोग वाले ऐसे मुनि महात्माओंको उत्तम अन्तर आत्मा कहते हैं ।

भावार्थ-

यों तो छटवें गुणस्थान से लेकर आँगे जितने भी संयमी हैं उन सबकी मुनि महामुनि आदि संज्ञा है, परन्तु यहां पर सातवें गुणस्थान से लेकर आँगे का प्रयोजन है । और वे ही उत्तम-अन्तर आत्मा कहलाते हैं । कारण कि उनके ऊचे दर्जे की विशुद्धता और उसके फल-स्वरूप ऊचे ही दर्जे की निर्जरा पाई जाती है । बहुधा उनका काम धर्म व शुक्लध्यान धरना ही है । उनके पास न परिग्रह है और न किसी तरह की इच्छा, सिर्फ उद्देश्य है तो केवल संसार निर्वृत्ति का और इसीलिये सदैव प्रयत्न करते रहते हैं । अंतरंग परिग्रह के १४ भेद व वाह्य परिग्रह के १० भेद कुल परिग्रह के २४ भेद होते हैं सो उनके एक भी नहीं है ।

प्रश्न—मध्यम अन्तर-आत्मा किसे कहते हैं ? इसका उत्तर-

मध्यम अन्तर आतम हैं जे,
　　देशव्रती अनगारी ॥

शब्दार्थ-

देशव्रती = एकदेश व्रत पालने वाले-पंचम गुण स्थानवर्ती ।
अनगारी = गृहादि परिग्रह रहित मुनि—छट्टवें गुणस्थान वाले ।

अर्थ-

एकदेश व्रत (चारित्र) को पालने वाले श्रावक (पंचमगुण स्थानवर्ती) और सर्वदेश व्रतको पालने वाले मुनि(छट्टवें गुणस्थान वाले)ये दोनों मध्यम अन्तर-आत्मा कहलाते हैं; कारण कि ये प्रवृत्तिमार्गमें भी आजाते हैं।

खुलासा-

यहाँ पर कोई २ आगारी पद रखते है—जिसका कि अर्थ श्रावक होता है, ऐसी दशा में देशव्रती व उसमें कोई विशेषता नहीं रहती। अतएव यहां पर अनगारी पद रखना ठीक है, और ऐसा ही स्वामि—कार्तिकेयानुप्रेक्षा वगैरहमें लिखा है। उसका अर्थ छट्टवें गुणस्थान वाला मुनि होता है जो इष्ट भी है। पाठक समझकर काम करें।

प्रश्न—जघन्य अन्तर-आत्मा किसे कहते है? इसका उत्तर—

जघन कहे अविरत--समदृष्टि,
तीनों शिवमग चारी ॥

शब्दार्थ-

अविरत=व्रत रहित। समदृष्टि=सम्यग्दृष्टि-चतुर्थ गुण स्थान वाले। चारी=चलने वाले-पालन करने वाले।

अर्थ-

अव्रती सम्यग्दृष्टि को जोकि चतुर्थ गुणस्थान वाला

है, जघन्य अन्तरआत्मा कहते हैं । इस तरह उत्तम मध्यम व जघन्य तीनों ही अन्तरआत्मा मोक्ष-मार्ग में विचरने वाले हैं याने मोक्षमार्गको पालने वाले होते हैं।

प्रश्न—परमात्मा किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं? इसका उत्तर—

सकल निकल परमातम द्वैविधि ।

शब्दार्थ-

सकल=कर्ममल सहित-अर्हन्त भगवान । निकल=कर्म मल रहित-सिद्ध भगवान्। परमात्मा=उत्कृष्ट आत्मा वाले । द्वैविधि=दो तरह के ।

अर्थ--

जिसकी आत्मा उत्कृष्ट(पवित्र)है उसको परमात्मा कहते हैं-उसके सकल और निकल ऐसे दो भेद हैं ।

प्रश्न—सकल परमात्मा किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

तिनमें घाति निवारी-
श्री अरहन्त सकल परमातम ।
लोकालोक निहारो ॥५॥

शब्दार्थ

घाति=घातिया (ज्ञानावरणादिचार) कर्म । निवारी= नाश करने वाले। लोकालोक=लोक और अलोक । निहारी= देखने वाले ।

अर्थ--

जिसने चार घातियाकर्मोंका नाशकर दिया है और इसीलिये लोक एवं अलोक को एक साथ दर्पणकी तरह स्वच्छ देखता है–ऐसे अर्हन्त भगवान्को सकल परमात्मा कहते हैं।

प्रश्न—निकल परमात्मा किसको कहते हैं और वे क्या करते हैं ? इसका उत्तर—

ज्ञान शरीरी त्रिविध कर्ममल–
वर्जित, सिद्ध–महंता ।
ते हैं निकल, अमल परमातम ॥
भोगें शर्म अनन्ता ।

शब्दार्थ–

ज्ञानशरीरी = ज्ञानादि चतुष्टय (ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य) ही है शरीर जिनका। त्रिविध-कर्ममल = तीन तरह का कर्म रूपी मैल (द्रव्यकर्म, ज्ञानावरणादि ८ कर्म । नोकर्म, शरीर वगैरह । भावकर्म, राग-द्वेष आदि कषाय भाव) वर्जित = रहित। सिद्ध = आठकर्म रहित--सिद्ध भगवान् । महन्ता = महान्—महात्मा । निकल = शरीर या कर्म से रहित। अमल = मल रहित-निर्मल। परमातम = उत्कृष्ट जीव । भोगें = अनुभव करें-स्वादें । शर्म = सुख । अनन्त = अविनाशी अथवा अपरिमित ।

अर्थ-

जिनके खाली ज्ञानादि चतुष्टयरूप ही शरीर पाया जाता है (यह हम लोगों जैसा स्थूल शरीर नहीं है) और उपर्युक्त तीन तरह के कर्ममलों से रहित हैं, ऐसे सिद्ध महात्माओं को निकल परमात्मा कहते हैं। और वे अनन्त सुख को भोगते हैं। अर्थात् सदा काल सुख का स्वाद लेते रहते हैं।

भावार्थ-

कर्मों के मूल भेद ८ है (ज्ञानावरणादि पूर्वोक्त) जिनमें से ४ चार का नाम घातिया है, क्योंकि वे जीव के खास गुण-ज्ञान दर्शन सुख वीर्य, को घात करते हैं याने प्रकट नहीं होने देते। और शेष ४ चार का नाम अघातिया है, कारण कि उनके उदय होने पर भी खास गुणों में कोई वाधा या रुकावट पैदा नहीं होती; याने वे गुण बराबर प्रकट हो जाते है। इस तरह जिसने ४ चार—घातिया—कर्मों (उत्तर भेद ४७) का नाश कर दिया है, वह अर्हन्त परमात्मा या सकल परमात्मा कहलाता है। हाँ इतनी विशेषता जरूर है कि उसके चार-घातिया-कर्मों के ४७ भेदों (ज्ञानावरण के ५ दर्शनावरण के ९ मोहनीके २८ अन्तराय के ५ = ४७) के साथ ही १६ भेद (१ नरक गति २ तिर्यंग्गति ३ नरक—गत्यानुपूर्वी ४ तिर्यंग्गत्यानुपूर्वी ५ दोइन्द्रिय ६ तीनइन्द्रिय ७ चारइन्द्रिय ८ नरकायु ९ तिर्यंगायु १० देवायु ११ उद्योत १२ आतप १३ एकेन्द्रिय १४ साधारण १५ सूक्ष्म १६ स्थावर) अघातिया के भी नष्ट होते है। याने

अर्हन्त के कुल ६३ कर्मों का नाश होता है, तब वह अर्हन्त परमात्मा या सकल परमात्मा कहलाता है। और जिसने बकाया चार अघातिया कर्मों (८५ भेदों) का भी नाशकर दिया है वह निकल परमात्मा या सिद्ध परमात्मा कहलाता है। अर्हन्त भगवान के परमौदारिक शरीर है, जिससे वे विहार करते हैं, मोक्षमार्ग का, जीवादि सात पदार्थों का, छहद्रव्यों का पंचास्तिकाय का, चार अनुयोगों (प्रथमानुयोग-चरणानुयोग-द्रव्यानुयोग-करणानुयोग) का, श्रावक व मुनि धर्म का, निरूपण (उपदेश) करते हैं, परन्तु सिद्ध महराज के स्थूल—औदारिक शरीर न होने से वे सिर्फ अचल रहते हे और कुछ नहीं कर सक्ते। अनन्त काल पर्यन्त अनन्त चतुष्टय का अनुभव करते रहते हैं।

अवशिष्ट—

वहिरातमता हेय जान तजि;
अन्तर आतम हूजै।
परमातम को ध्याय निरंतर,
जो नित आनन्द पूजै॥

शब्दार्थ-

वहिरातमता=मिथ्यादृष्टिपना। हेय=त्यागने योग्य। तजि=छोड़ देना। हूजै=होजाना। ध्याय=ध्यान करना। निरंतर=सदैव। जो=जिससे। पूजै=प्राप्त होवे।

अर्थ-

मिथ्यादृष्टिपने को छोड़कर अन्तर-आत्मा (सम्यग्दृष्टि) हो जाना चाहिये, तथा परमात्मा का निरंतर ध्यान धरना चाहिये, जिससे नित्य (शाश्वतिक) आनन्द की प्राप्ति हो।

भावार्थ-

जीव-तत्त्व की उपर्युक्त (वहिरात्मा अन्तर-आत्मा परमात्मा) तीन अवस्थाओं में सबसे निकृष्ट पहिली अवस्था है, कारण कि जब तक वह रहती है तब तक निःसन्देह संसार का अन्त नहीं हो पाता—निरंतर संसार में जन्म मरण के दुःख उठाते हुए इधर उधर घूमना पडता है। इसलिये बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है कि उस पहिली अवस्था (वहिरातमता) को छोडकर दूसरी अवस्था (अन्तर आत्मा-सम्यग्दृष्टिपना) को अवलम्बन—धारण करे और तीसरी अवस्था (परमातमता) को प्राप्त करने की कोशिश करे, कारण कि एकाएकी वह हो नही सक्ती। इसलिये इसी (पूर्वोक्त) क्रम से उसे प्राप्त करना चाहिये। वस इसीसे भला हो सक्ता है दूसरा कोई उपाय (साधन) भला होने का नही है। और उस अन्तिम अवस्था के प्राप्त हो जाने पर फिर कोई दुःख भय व चिन्ता भी नही रहती प्रत्युत सदैव सुख-शान्ति में मग्न रहते हैं कभी भी वह सुख-शान्ति भग्न नहीं होती, अनन्त काल तक एकसा परिवर्त्तन रहता है इत्यादि।

प्रश्न—अजीव-तत्त्व किसे कहते हैं व उसके कितने भेद

है ? इसका उत्तर—

चेतनता-बिन सो अजीव है।
पंच-भेद ताके हैं ॥

शब्दार्थ—

चेतनता=ज्ञानदर्शनपना । पंचभेद=पांच प्रकार । ताके=उसके ।

अर्थ—

जिसमें चेतनता अर्थात् ज्ञान दर्शन, नहीं पाया जाता उसको अजीव कहते हैं। वह अजीव पांच प्रकार का है याने पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच भेद उसके हैं।

प्रश्न—पुद्गल किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

पुद्गल-पंचवरन रसपन गंध-
दु, फरस-वसु जाके हैं ॥

शब्दार्थ—

पंचवरन=पॉच रंग (काला, पीला, नीला, लाल, सफेद) रसपन=रस पॉच (खट्टा मिट्ठा. कडुआ. कषायला, चिरपरा) गंधदु=दो गंध (सुगंध, दुर्गन्ध) फरसवसु=स्पर्श आठ (शीत उष्ण, कोमल, कठोर, हलका, भारा रूक्ष, स्निग्ध,) जाके=उसके पुद्गल के ।

अर्थ-

जिसमें पांचवर्ण, पांचरस, दो गँध, आठ स्पर्श कुल २० वीस गुण पाये जाते हैं उसको पुद्गल कहते हैं। दूसरी जगह पूरण गलन स्वभावभी इसका बतलाया है।

भावार्थ-

यह (पूर्व में) पुद्गल का असाधारण लक्षण बताया गया है जो पुद्गल को छोड़कर दूसरी द्रव्यों में कदापि नहीं पाया जा सक्ता। मूल में पुद्गल के अणु व स्कन्ध दो भेद होते हैं फिर स्कन्ध के ६ छह भेद हो जाते हैं। जैसे १ बादर-बादर-पत्थर मिट्टी इत्यादि २ बादर—दूध-पानी वगैरह ३ बादर सूक्ष्म—धूपछाया आदि ४ सूक्ष्म बादर—शब्द—गंध इत्यादि ५ सूक्ष्म—ज्ञानावरणादि आठ कर्म ६ सूक्ष्मसूक्ष्म—परमाणु वगैरह। इनका विस्तार फिर कभी लिखा जायगा अभी इतना समझ लेना ही काफी है। हां अणु-नामक भेद अनंत किसम का होता है यह भी समझ लेना।

प्रश्न—धर्म-द्रव्य किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

जिय-पुद्गल को चलन सहाई।
धर्म-द्रव्य अनरूपी॥

शब्दार्थ-

जिय = जीव। चलन सहाई = चलने में सहायक। धर्मद्रव्य = धर्म नामक पदार्थ (पुण्य से भिन्न) अनरूपी = रूप रसादि पुद्गल के गुणों से रहित—जो इन्द्रियों का विषय न हो।

अर्थ—

जो पदार्थ जीव और पुद्गल के चलने (गमनादि क्रिया) में सहायक हो उसको धर्म-द्रव्य-कहते हैं (जैसे मछली वगैरह जलचर जीवों के चलने में जल सहायक होता है) और वह पदार्थ किसी भी इन्द्रिय का विषय (रूपी) न होता हुवा तमाम लोक में व्याप्त है।

भावार्थ—

वह धर्म द्रव्य न आंखों से दिखता है न कानों से सुनाई पडता है न और भी किसी इन्द्रिय का विषय होता है' कारण कि वह रूप रसादिक जो कि इन्द्रियों के विषय हैं उनसे रहित है। और पुण्य-पाप (धर्म अधर्म) नामक पदार्थ-जो कि शुभ अशुभ व सुख दुःख का सूचक है, उनसे यह भिन्न है इसकी द्रव्य संज्ञा (नाम) है और यह सम्पूर्ण लोक में ठसाठस भरा हुवा है। इसका काम सिर्फ यह है कि यदि जीव व पुद्गल गमनक्रिया कर रहे हों तो उनको उसमें मदद पहुँचा देना न कि जबर्दस्ती प्रेरणा करना—वह तो उदासीन रूप से खाली मदद करता है। जैसे जल, यदि मछलियाँ गमन करें तो सहायक हो जाता है न कि प्रेरणा करता है।

प्रश्न—अधर्म-द्रव्य किसे कहते हैं? इसका उत्तर—

तिष्ठत होय अधर्म सहायी।
जिन, बिन मूर्ति निरूपी ॥७॥

शब्दार्थ-

तिष्ठत = बैठना-स्थिर होना । अधर्म = अधर्म नामक द्रव्य । सहायी = सहायक । जिन = जिनेन्द्र भगवान् । विनमूर्ति = मूर्त्ति रहित-अरूपी । निरूपी = कही-बताई ।

अर्थ-

जो पदार्थ जीव और पुद्गल को बैठने या स्थिर होने में मदद (सहायता) देता है, वह अधर्म-द्रव्य कहलाता है । उसको भी श्री जिनेन्द्र भगवान् ने अरूपी बतलाया है । शेष-सब बातें धर्म-द्रव्य की तरह समझ लेना ।

प्रश्न—आकाश-द्रव्य किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

सकल-द्रव्य को वास जास में,
सो आकाश-पिछानो ।

शब्दार्थ-

सकल द्रव्य = सब द्रव्यें । वास = निवास-रहना । जासमें = जिसमें । आकाश = आकाश-द्रव्य । पिछानो = जानो-समझो ।

अर्थ-

जिस पदार्थ में (स्थान में) सम्पूर्ण द्रव्यें रहती हैं उसको आकाश द्रव्य कहते हैं । ऐसा समझना चाहिये ।

भावार्थ-

लोक में आकाश ही एक ऐसा द्रव्य है जो सम्पूर्ण पदार्थों

को ठहरने के लिये अवकाश (स्थान-जगह) देता है। उसके लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसे दो भेद हैं। लोकाकाश वह है जहां पर सब द्रव्यें पाई जाती हैं (तनुवातवलय तक) और अलोकाकाश वह है जहाँ पर केवल आकाश ही आकाश है (लोक के ऊपर) दूसरा कुछ नहीं है।

प्रश्न—काल-द्रव्य किसे कहते हैं व उसके कितने भेद हैं ? इसका उत्तर—

नियत वरतना, निशि दिन सो-
व्यवहार काल, परिमाणो ॥

शब्दार्थ-

नियत = निश्चय-मुख्य । वरतना = परिणमने में कारण होना। निशि = रात्रि । परिमाणो = जानो ।

अर्थ-

हरएक पदार्थ की हालतों को जो बदलता है याने पदार्थों को अपनी हालतें बदलने में जो सहायता देता है, उसको काल-द्रव्य कहते हैं। वह निश्चय और व्यवहार के भेद से दो तरह का है। निश्चय कालद्रव्य उसको कहते हैं जिसका 'वरतना, याने पदार्थों को परिणमाना लक्षण हो। और रात्रि दिन घड़ी घंटा पल वगैरह को व्यवहार कालद्रव्य कहते हैं। ऐसा समझना चाहिये।

भावार्थ-

यों तो हरएक पदार्थ हर समय स्वयं परिणमता रहता है कारण कि उसमें अनादि से वर्त्तन गुण पाया जाता है। परंतु उस वर्त्तन गुण की व्यक्ति (प्रकटपना) निश्चय काल द्रव्य के सहारे से होती है। इसलिये उस निश्चय काल द्रव्यका लक्षण 'वरतना, अर्थात् पदार्थों को परिणमाना या पदार्थों के स्वयँ परिणमन होने में निमित्त होकर मदद देना—बताया गया है। तथा उस निश्चय—कालद्रव्य की जो घडी-घण्टा रात्रि दिन, वगैरह पर्याएं हैं, उनको व्यवहार काल द्रव्य कहते हैं, जो कि लोक व्यवहार चलने में उपयोगी है। ऐसा समझना चाहिये।

अवशिष्ट—

यों अजीव, अब आस्रव सुनिये।

अर्थ-

इस तरह (पूर्वोक्त रीति) से अजीव-तत्त्व कहा गया। अब आस्रव-तत्त्व का वर्णन करते हैं सो सुनो।

प्रश्न—आस्रव-तत्त्व किसे कहते है व उसके कितने भेद हैं? इसका उत्तर—

मन वच काय त्रियोगा, मिथ्या अविरति-
अरु कषाय परमाद-सहित उपयोगा ॥८॥

शब्दार्थ-

त्रियोगा = तीनों योग । मिथ्या = मिथ्यादर्शन । अविरति = व्रत रहितपना-असंयम । कषाय = आत्मा को जो कषे परतत्र करे । परमाद = जो धर्मादिक अच्छे काम करने में शिथिल या अनुत्साहित करे । उपयोगा = परिणमन-स्वभाव-प्रवृत्ति ।

अर्थ-

मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और प्रमाद इन कर सहित मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को आस्रव कहते हैं अथवा योग (मन वचन काय) मिथ्यादर्शन, अविरति कषाय और प्रमाद इन पांच को ही आस्रव कहते हैं कारण कि इनके जरिये कर्म आते हैं।

भावार्थ-

तत्त्वार्थ सूत्र में 'कायवाङ्मन कर्मयोगः, स आस्रवः, ऐसे सूत्र हैं। जिनका आशय यह है कि, मन वचन काय की क्रिया को योग कहते हैं और उसयोग का ही नाम आस्रव है। ऐसी परिस्थिति में जब वह योग; मिथ्यादर्शनादि चार से अनुरंजित (संयुक्त) होता है तब विशेष २ कर्म-प्रकृतियों का आगमन और बंध होता है, इसलिये उस द्वार को आस्रव कहा है। योग का काम दलाल या नौकर को तरह है। और मिथ्यादर्शनादि का काम है मालिक या पैसे की तरह। अतएव उस आस्रव के ३-४-५ व ५७ भेद होते हैं ऐसा समझ लेना।

अवशिष्ट—

ये ही आतम को दुःख कारन ।
तातें इनको तजिये ॥

शब्दार्थ-

येही=उपर्युक्त । दुःख कारन=दुःख के कर्त्ता । तजिये=छोड़ना चाहिये ।

अर्थ--

पूर्वोक्त मिथ्यादर्शनादिक ही आत्मा को दुःख देने वाले हैं, इसलिये उनको सर्वथा छोड़ देना चाहिये-ऐसा श्रेष्ठ पुरुषों का कहना (शिक्षा) है ।

प्रश्न—बंध किसे कहते है ? इसका उत्तर—

जीवप्रदेश बँधे विधिसों सो-
बंधन, कबहुं न सजिये ॥

शब्दार्थ

जीव प्रदेश=आत्माके सूक्ष्मांश । बँधे=बँधना । विधि=कर्म बंधन=बंध-परतंत्रता । कबहुं=कभी । सजिये=तैयार करना-बांधना

अर्थ--

जीव के प्रदेशों का और कर्म के परमाणुओं का परस्पर एक क्षेत्रावगाह संबंध होना (दोनों का परस्पर

घनिष्ट मेल हो जाना) बंध कहलाता है। सो ऐसा बंध कभी नहीं बांधना (करना) चाहिये।

भावार्थ-

जीव के प्रदेशों के साथ जब योग व कषाय के जरिये कार्माण-परमाणु आकर चिपट जाते हैं तब उन दोनों की मिली हुई अवस्था को बंध कहते हैं। बस वही दुःख का देने वाला है। इससे यह सिद्ध होता है कि बिना बंधे हुए चाहे एक क्षेत्र में रहें भी तो भी कोई हर्जा नहीं होता न उसकी बंध संज्ञा है। अतएव यह सघट्टरूप बंध कभी नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—संवर किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

शम दम सों जो कर्म न आवें-
सो संवर, आदरिये ॥

शब्दार्थ-

शम = कषायादिक का उपशम (अनुदय) अथवा समताभाव-मंद कषाय वगैरह। दम = इन्द्रियादिक का दमन (विजय) आदरिये = प्राप्त करना चाहिये।

अर्थ-

कषायादिक के उपशम (मंदोदय या अनुदय) व इन्द्रियादि के दमन होने से नवीन कर्मों का नहीं आना संवर कहलाता है। अर्थात् 'आस्रव निरोधः संवरः, आ-

स्रव के रुक जाने को संवर कहते हैं। ऐसा सँवर जरूर प्राप्त करना चाहिये।

प्रश्न—निर्जरा किसे कहते हैं व उसके कितने भेद हैं ? इसका उत्तर—

तप बल तैं विधि-झरन निर्जरा।
ताहि सदा आचरिये ॥ ९ ॥

शब्दार्थ-

तपबलतैं=तपके बलसे। विधि-झरन=कर्मों का झरना। ताहि=उसे। आचरिये=प्राप्त करना चाहिये।

अर्थ-

तप के बल (प्रभाव) से जो एक देश कर्म झरते हैं—पृथक होते हैं; उसको निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा को हमेशा प्राप्त करना चाहिये।

भावार्थ-

निर्जरा के सविपाक (अकाम) और अविपाक (सकाम) ऐसे दो भेद हैं. सो यहां पर सकाम निर्जरा का लक्षण कहा गया है। कारण कि तप वगैरह के प्रभाव से कितने ही कर्म असमय में भी अपनी आयु (स्थिति) पूरी कर छूट जाते हैं। और जो कर्म पूरी आयु को भोगकर अलग होते (छूटते) हैं उसको अकाम निर्जरा कहते हैं। यह प्रायः सब संसारी जीवों के हमेशा होती रहती है।

प्रश्न—मोक्ष किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

सकल करमतें रहित अवस्था,
सो शिव, थिर सुखकारी।
इह विधि जो सरधा तत्त्वनकी,
सो समकित व्यवहारी ॥

शब्दार्थ

सकल करम=सम्पूर्ण कर्म, १४८ भेद । अवस्था=हालत । इहविधि=इस प्रकार । सरधा=श्रद्धान-प्रतीति । तत्त्वन=पूर्वोक्त सात तत्त्व । समकित=सम्यग्दर्शन । व्यवहारी=व्यवहार नाम वाला।

अर्थ—

जीव की उस अवस्था का नाम मोक्ष है जो कि सम्पूर्ण कर्मों से रहित है। अर्थात् आत्मा से सम्पूर्ण कर्मों का छूट जाना मोक्ष कहलाता है। वह मोक्ष स्थिर (नित्य) सुख का करने वाला है। इस प्रकार (पूर्वोक्त रीति से लक्षण व भेद जानकर-सामान्य विशेष रूप) सात तत्त्वों के श्रद्धान करने को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन का कारण क्या है ? इसका उत्तर—

देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन,
धर्म-दयाजुत सारो ।

ये हू मान समकित को कारण,
अष्ट अंग-जुत धारो ॥ १० ॥

शब्दार्थ

देवजिनेन्द्र = अर्हन्त देव-सच्चा वीतरागदेव । परिग्रहविन = परिग्रह रहित । दयाजुत = दया सहित । मान = अहकार अथवा जानना । अष्ट अंग = आठ अंग (वक्ष्यमाण) ।

अर्थ-

जिनेन्द्र देव (अर्हन्त भट्टारक) परिग्रह रहित गुरु (निर्ग्रन्थ मुनि) और दयामयी धर्म (अहिंसा परमोधर्मः) इन तीनों की उपासना करना ही सम्यग्दर्शन का कारण है, या यों कहिये कि अनन्यशरण (भक्त) होकर इन की मानना-थापना करना ही सम्यग्दर्शन (व्यवहार) है सो उस सम्यग्दर्शन को आठ अँग (वक्ष्यमाण) सहित धारण करना चाहिये ।

भावार्थ-

सच्चेदेव, सच्चेगुरु व सच्चे धर्म, का अभिमान होना, उनमें अटूट भक्ति-यथार्थ श्रद्धान-हार्दिक प्रेम-निश्चल रुचिको जाहिर करता है । और इन्हा (उपर्युक्त) परिणामों को सम्यग्दर्शन व उसके अंग या बीज कहने में कोई क्षति या अतिशयोक्ति नहीं है । हम समझते हैं बाह्य में इससे बढ़कर सम्यग्दर्शन की और कोई पहिचान ही नहीं है । अतएव देव-

गुरु—धर्म, के विषय में उनकी उत्कृष्टता का अभिमान करना कोई बुरा या दोषाधायक नहीं है। बल्कि सच्चे धर्मात्मा का यह फर्ज होना चाहिये, तभी उनकी रक्षा हो सक्ती है। वास्तव में, सच्चे देव-गुरु-धर्म-ही तरन-तारन हो सक्ते हैं दूसरे नहीं, ऐसा स्वाभिमान (धर्मानुराग) सराहनीय है। वह अभिमान अन्तरंग भाव का द्योतक है। अर्थात् ऐसा अभिमान उसीको हो सक्ता है जिसको सच्चीश्रद्धा है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन की निर्मलता एवं वृद्धि किस तरह से होती है ? इसका उत्तर—

वसुमद टारि निवारि त्रिशठता,
पट् अनायतन त्यागो।
शंकादिक वसु दोष-विना,
संवेगादिक चित पागो॥

वसुमद = आठमद (वक्ष्यमाण) टारि = दूर करना। निवारि = त्यागना। त्रिशठता = तीन-मूढता (मूर्खता)। पट-अनायतन = छह-निन्द्यचीजें। शंकादिक-वसुदोष = शंका वगैर-आठ दोष। संवेगादिक = संसार से भय होना आदि। चित-पागो = चित्त को—लगाना।

अर्थ-

आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन, शंकादिक आठ दोष, इन सम्यग्दर्शन के २५ पच्चीस दोषों को हटा कर संवेगादिक गुणों में चित्त को लगाना चाहिये। ऐसा

करने से ही सम्यग्दर्शन की निर्मलता वृद्धि एवं पुष्टि होती है।

अवशिष्ट—

अष्ट अंग अरु दोष पच्चीसों,
तिन संक्षेपहुँ कहिये।
विन जानें ते दोष-गुणन को,
कैसे तजिये गहिये ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

संक्षेपहुं = सँक्षेप से। कहिये = कहना वर्णन करना। विनजाने = विना समझे। दोष—गुणन = दोष और गुण। तजिये = छोड़ना गहिये = ग्रहण करना।

अर्थ—

आंगे—आठ अंग और पच्चीस दोषोंका वर्णन संक्षेप से किया जाता है। कारण कि दोष और गुणों को विना समझे, दोषों का त्याग और गुणों का ग्रहण कैसे हो सक्ता है? कभी नहीं। अतएव उनका कहना बहुत जरूरी है।

नोट—आंगे विस्तार के भय से दो दो अगों का वर्णन एक साथ किया जाता है यथा—

प्रश्न—सम्यग्दर्शन के पहिले व दूसरे अंग का लक्षण व

नाम क्या है ? इसका उत्तर—

जिन वच में शंका न धार, वृष-
भव सुख वाँछा भानै ।

शब्दार्थ-

जिनवच = जिनवाणी (परमागम-द्वादशांग) । शंका = सन्देह । वृष = धर्म । भवसुख = संसारसुख । वाँछा = आकाँक्षा-इच्छा । भानै = करना ।

अर्थ--

जिनवाणी के कथन में किसी तरह का सँदेह नहीं करना, पहिला (१) निःशंकित अँग कहलाता है। और जिन धर्म को धारण (पालन) कर बदले में संसार सुख (इन्द्रिय विषय वगैरह) की आकांक्षा (अभिलाषा) नहीं करना दूसरा, (२) निः कांक्षित अंग कहलाता है।

प्रश्न—तीसरे व चौथे अंग का लक्षण (स्वरूप) व नाम क्या है ? इसका उत्तर ।

मुनि तन मलिन न देख घिनावै,
तत्त्व-कुतत्त्व पिछानै ॥

शब्दार्थ—

मुनितन = मुनियों का शरीर । मलिन = मैला कुचैला । घिनावै = घृणा करना । तत्त्व-कुतत्त्व = अच्छे-बुरे पदार्थ । पिछानै =

पहिचान करना ।

अर्थ-

मुनियों के शरीर को मैला देखकर घृणा नहीं करना किन्तु उनके गुणों में अनुराग करना सो तीसरा (३) निर्विचकित्सित अंग कहलाता है। और अच्छे बुरे तत्त्व (पदार्थ) की पहिचान करना चौथा (४) अमूढ़ दृष्टि अंग कहलाता है।

प्रश्न पाँचवें व छटवें अंग का लक्षण व नाम क्या है ? इसका उत्तर—

निज-गुण अरु पर-औगुण ढांके,
व निज-धर्म बढ़ावै ।
कामादिक कर वृषतैं चिगते,
निज परकों सु दृढ़ावै ॥१२॥

शब्दार्थ--

निजगुण = अपने गुण। पर—औगुण = दूसरे के दोष ऐब। ढाँके = छिपाना। निजधर्म = अपना धर्म-मजहब। बढ़ावे = प्रशंसा करना। कामादिक = मैथुनादि कर्म। वृषतैं = धर्म से। चिगते = डिगते हुए-भ्रष्ट होते हुए। निज = अपने आप। पर = दूसरे। सुदृढ़ावे = खूब मजबूत करना।

अर्थ-

अपने उत्तम गुणों और दूसरे के औगुणों को प्रकट

नहीं करना (जिससे दूसरों की निन्दा व अपनी प्रशँसा हो) इसीलिये जैन धर्म की प्रशँसा-आदर-बडप्पन होने का मौका लेना पांचवां (५) उपगूहन या उपबृंहण अंग कहलाता है। और वेद इत्यादिक का उदय होने के कारण धर्म से विचलित होते हुए अपने को व दूसरों को भर शक पुनः उसमें स्थिर करना छटवां (६) स्थितिकरण अंग कहलाता है।

प्रश्न—सातवें और आठवें अंग का लक्षण व नाम क्या है? इसका उत्तर—

धर्मी सों गऊ-वच्छ प्रीति सम,
कर-निज धर्म दिपावै ॥

शब्दार्थ-

धर्मी = धर्मात्मा-सहधर्मी । गऊ वच्छ = गाय का बछडा । प्रीति = प्रेम । सम = सरीखा । निज धर्म = अपना धर्म । दिपावै = प्रकाशित करना-जाहिर करना ।

अर्थ-

अपने सहधर्मी भाइयोंके प्रति ऐसा (निरपेक्ष) प्रेम दर्शाना जैसा कि गाय अपने बछड़े पर दर्शाती है, उसको सातवां (७) वात्सल्य अंग कहते हैं। और जिस तरह बनैं उस तरह (विद्या आदिक से) अपने धर्म को प्रकाशित करना

धर्मध्वजा फहिराना आठवां (८) प्रभावनाअंग कहलाता है ।

भावार्थ-

ये आठों अंग आत्माश्रित और पराश्रित दो तरह के होते हैं । आत्माश्रित वे कहलाते हैं जिनमें केवल अपनी आत्मा से ताल्लुक है, और पराश्रित वे हैं जिनमें दूसरे से ताल्लुक है । इन दोनों में सबसे उत्तम आत्माश्रित हैं, परन्तु लोक व्यवहार में पराश्रित भी करना पडते हैं । इसलिये दोनों ही श्रेयस्कर हैं । इनमें बहुधा कार्यकारण—भाव संबंध पाया जाता है । अर्थात् जब आत्मा में गुणों का विकाश होता है तब वाह्य—प्रवृत्ति स्वतः वैसी होने लगती है । इसलिये गुणों का विकाश कारण है और तदनुकूल—प्रवृत्ति कार्य है, ऐसा समझ लेना । साराँश यह कि सम्यक्त्व के अंग अन्तरंग वा वाह्य दो तरह के होते हैं ।

आगे सम्यग्दर्शन के २५ दोषों में से पहिले आठ दोषों का वर्णन व कर्त्तव्य दिखाते हैं—

इन गुण तें विपरीत-दोष वसु,
तिनको सतत खिपावै ॥

शब्दार्थ-

इनगुण = उपर्युक्त आठ अंग । विपरीत = उल्टे । दोषवसु = दोष । सतत = निरंतर । खिपावै = क्षय करना ।

अर्थ—

पूर्वोक्त आठ गुणों (अंगों) के उल्टे (शंका कांक्षा विचिकित्सा वगैरह) ही आठ दोष कहलाते हैं। अतएव सम्यग्दर्शन में मलीनता पैदा करने वाले इन आठ दोषों का निरंतर त्याग करना (क्षय करना) चाहिये। ऐसा करने से ही कल्याण हो सक्ता है। इसके बाद आठ मदों को कहते हैं।

प्रश्न—आठ मदों का लक्षण व नाम क्या है ? इसका उत्तर देते हुए पहिले कुल व जाति का मद बतलाते हैं यथा—

पिता भूप वा मातुल नृप जो-
होय, न तो मद ठाने।

शब्दार्थ—

भूप=राजा-प्रतापी । मातुल=मामा । नृप=राजा । मद=गर्व-घमंड । ठानै=करना ।

अर्थ—

पिता व उसके वँश में कोई राजा वगैरह प्रतापी पुरुष (बलावाला) उत्पन्न होने पर उसका अभिमान करना (१) कुलका मद कहलाता है। और मामा या उसके वँश में कोई राजा वगैरह प्रतापी पुरुष उत्पन्न होने पर उसका अभिमान करना (२) जाति का मद कहलाता है।

ये दोनों ही मद सम्यक्त्व के घातक हैं, इसलिये नहीं करना चाहिये ।

भावार्थ—

शुद्ध-पितृपक्ष को कुल कहते हैं और शुद्ध-मातृपक्ष को जाति कहते हैं । वस लोक—सन्मान, मोक्षमार्ग—साधन, इन दोनों के लिये कुल व जाति का शुद्ध-निष्कलंक रखना बहुत जरूरी है । यहाँ पर इसी गरज से यह बताया गया है कि शुद्ध—कुल व जाति तथा उसमें भी प्रतापी-हुकूमत वाले पुरुष के होते हुए किसी तरह का दूसरों को दवाने नीचा दिखाने आदि के इरादे से वृथा अभिमान नहीं करना, सम्यग्दर्शन रूप मोक्षमार्ग का साधक है-याने उससे सम्यग्दर्शन निर्मल और पुष्ट होता है । कारण कि एक तो सदा एकसा अभिमान किसी का रहता नहीं, दूसरे अन्त में है तो वह कषायभाव ही । ऐसी हालत में वह सर्वथा त्यज्य ही है ।

प्रश्न—रूप, ज्ञान, धन, वल, इन चारो का मद किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

मद न रूप को, मद न ज्ञान को ।
धन, बल, को, मद भानै ॥१३

शब्दार्थ—

रूप = सुन्दरता-खूबसूरती । ज्ञान = विद्या-कला कौशल वगैरह । धन = रुपया पैसा वगैरह । बल = शारीरिक ताकत व दीगर बल ।

अर्थ-

मैं सुन्दर-खूबसूरत हूं, मेरी बराबरी कोई नहीं कर सक्ता ऐसा अभिमान करना (३) रूपका मद है। मैं बहुत विद्वान् पंडितहूं, मेरी विद्या से कोई मुकाबला नहीं कर सक्ता ऐसा अभिमान करना (४) ज्ञान का मद है। मेरे पास बहुत धन है-मैं जो चाहूं सो बातकी बातमें कर सक्ता हूँ, मेरा कोई क्या कर सक्ता है ऐसा अभिमान करना (५) धनका मद है। मेरे बदन में बखूबी (भारी) ताकत है एक घूंसा में दूसरे को पछाड़ सक्ता हूं, कुटुम्ब व नौकर चाकर भी काफी हैं ऐसा अभिमान करना (६) बलका मद है। ये चारों ही त्याज्य हैं-नहीं करना चाहिये। कारण कि ये सभी चीजें विनश्वर हैं फिर इनका कोरा अभिमान क्यों करना ? सुन्दररूप, विद्या, धन, ऐश्वर्य (बल) सब कर्मजन्य हैं।

प्रश्न—बाकी दो (तप व प्रभुता) मद और कोनसे हैं ? इसका उत्तर—

तपको मद न, मद जु प्रभुता को-
करै न सो, निज जानै।

शब्दार्थ

तप = इच्छा—निरोध व अनशन वगैरह व्रत-आचरण। प्रभुता = बड़प्पन नामवरी-मान्यता। निज = आत्मा।

अर्थ-

विषय-कषाय से इच्छाको हटाना व उपवास वगैरह करना-तप है, और मैं बहुत तपस्वी-व्रती हूं ऐसा अभिमान करना (७) तप का मद है। तथा लोक में नामवरी बड़प्पन-मान्यता-पूछतांछ होने पर, मैं बड़ा आदमी हूं मुझे सब चाहते हैं मैं सर्व शिरोमणि हूं आदि अभिमान करना-(८) प्रभुता का मद है। इन उपर्युक्त आठ मदों को जो नहीं करता है वही अपनी आत्माको पहिचान सक्ता है। अर्थात् उसी को सम्यग्दर्शन का अविनाभावी स्वानुभव हो सक्ता है।

अवशिष्ट-

मद धारै तो यही दोष-वसु,
समकित को मल ठानै ॥

शब्दार्थ-

दोष-वसु=आठ दोष। समकित=सम्यग्दर्शन। ठानै=उत्पन्न करे।

अर्थ-

पूर्वोक्त आठ मदों को धारन करना, सो ही आठ दोष हैं; कारण कि वे भी सम्यग्दर्शन में मल पैदा करते हैं। इसलिये इनका त्यांग करना ही श्रेष्ठ है।

प्रश्न—छह अनायतन कौन हैं और उनका क्या करना चाहिये ? इसका उत्तर—

कुगुरु कुदेव कुवृष-सेवक की-
नहिं प्रशंस उचरै है ।

शब्दार्थ-

कुवृष=कुधर्म--मिथ्यामत । प्रशंस=तारीफ—सराहना । उचरे=करना वकहना ।

अर्थ-

पूर्वोक्त कुगुरु कुदेव कुधर्म और उन (तीनों) के सेवक ये ही छह अनायतन कहलाते हैं। सो सम्यग्दृष्टि जीव कभी इनकी प्रशंसा नहीं करते न किसी को करना चाहिये। कारण कि ये भी सम्यग्दर्शन में मल पैदा करते हैं।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि किसको नमस्कार वगैरह करते हैं ? इसका उत्तर—

जिन मुनि जिनश्रुत-विन कुगुरादिक,
तिन्हें न नमन करें हैं ॥ १४ ॥

शब्दार्थ-

जिनमुनि=दिगंबर-निर्ग्रन्थ गुरु । जिनश्रुत=जैनशास्त्र-परमागम । नमन=नमस्कार—विनय ।

अर्थ-

सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्रदेव, परिग्रहरहित (निर्ग्रन्थ) गुरु और जैन शास्त्र (परमागम) को छोड़कर उपर्युक्त कुगुरु आदिक (अनायतन) को नमस्कार नहीं करते। कारण कि वे सात भयों से रहित होते हैं।

भावार्थ-

यों तो हरएक—गृहस्थ-श्रावक (जैन) का कर्त्तव्य है कि वह अपने को शुद्ध—सम्यग्दृष्टि समझे और वैसा ही देव शास्त्र गुरु के विषय में श्रद्धान करे। याने कभी भी अपने देव शास्त्र गुरु को छोड़कर दूसरे देवादिक को नमन व अर्चन न करे, कारण कि ऐसा करने से मतलब तो हल (सिद्ध) होता ही नहीं किन्तु उल्टा मिथ्यात्व पुष्ट होता है। आज कल अकसर लोग भुलावे में आकर बीमारी वगैरह के वक्त कुदेवादिक को मानने पूजने लगते है और यह विश्वास कर बैठते हैं कि इनके जरिये हमारा काम जरूर सफल हो जायगा आदि। परन्तु यह उनकी बड़ी भारी भूल है। भला कभी नकली जवाहरातों से असली जैसा काम (ऊंची कीमत वगैरह) हो सक्तो है? कभी नहीं। तब व्यर्थ ही सत्य नहीं खोना चाहिये। मान लिया जाय कि किसी वक्त किसी को उन कुदेवादिक के सेवन करते समय कुछ लाभ भी नजर आया तो क्या सचमुच में उन्हीं के जरिये वैसा हुवा है? अगर ऐसा है तो जब पाप—कर्म का तीव्र उदय होता है तब वे अधिक २ पूजे जाते है फिर भी लाभ क्यों नहीं

पहुँचा सक्ते, कहाँ किनारा कस जाते हैं ? इससे स्पष्ट है कि जब पापकर्म का उदय कमताकत पड़ जाता है तब धूली से भी फायदा हो जाता है । मगर इसका मतलब यह नहीं है कि धूली ने ही सब कुछ कर दिया । नहीं वह तो वैद्य की तरह सादा निमित्तमात्र है, अच्छा बुरा करने वाला तो उसका कर्म ही है । बस ऐसा विश्वास रख दूसरे नकलियों को कभी नहीं मानना चाहिये । नियत डवाँडोल करने से कुछ नहीं होता, होता वही है जो होनहार है ।

रहा खास सम्यग्दृष्टि, सो वह तो स्वप्न में भी अन्यथा श्रद्धान नहीं कर सक्ता; कारण कि उसके सात भय (इस लोक भय, परलोक भय: मरणभय, वेदनाभय, अरक्षाभय, आकस्मिक भय, अगुप्ति भय,) बिलकुल नष्ट हो जाते हैं । तब फिर वह लोभ-लालच या भय-शंका में पडने ही क्यों चला ? कभी नहीं । इसलिये वह वचन तक से प्रशंसा नहीं करता नमन करना तो दूर रहा । इस तरह प्रकरण वश कुछ खुलासा किया गया है आगे और स्पष्ट किया जायगा ।

तात्पर्य–

इसका यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव तीन मूढ़ता (देव मूढ़ता, शास्त्र मूढ़ता, गुरु मूढता) से रहित होते हैं । उपर्युक्त चरण में मुख्यता से तीन मूढता (मूर्खता) का ही स्वरूप बताया है कारण कि पच्चीस दोषों में वे शामिल हैं ।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीव का स्वरूप (चलन-व्यवहार) क्या है ? इसका उत्तर—

दोष रहित, गुन सहित सुधीजे—
सम्यग्दरश सजै हैं।
चरित-मोह वश लेश न संयम,
पै सुरनाथ जजै हैं।
गेही पै गृह में न रचै ज्यों,
जल में भिन्न कमल है।
नगरनारि को प्यार यथा,
कादे में हेम अमल है॥१५॥

शब्दार्थ—

सुधी=विद्वान्-चतुर विचारवान्। सजै=भूषित-सहित। चरित मोह=चारित्र मोहनीकर्म। संयम=व्रत। पै=परन्तु। सुरनाथ=कल्पवासी देव। जजै=पूजित। गेही=गृहस्थी। रचै=पगै पगना। नगरनारि=वेश्या। कादे=कीचड़। हेम=सोना। अमल=निर्मल-स्वच्छ।

अर्थ—

जिसके उपर्युक्त पच्चीस दोष नहीं पाये जाते किन्तु निशंकितादि (पूर्वोक्त) आठ अंग मौजूद रहते हैं और जो हर तरह का विचार या परीक्षा रखता है व सम्यग्दर्शन रूप भूषण से भूषित है तथा चारित्र-मोहनीकर्म

के उदय होने से जो रंचमात्र भी व्रत धारण नहीं कर सक्ता तौ भी सम्यग्दर्शन के प्रभाव से कल्पवासी देवों कर पूजित होता है। तथा जो गृहस्थी में तो रहता है किन्तु उसमें पगता नहीं (उदासीन रहता) है, जैसे कि कमल जल के भीतर तो रहता है किन्तु है उससे अलहदा अर्थात् जल से लिप्त नहीं होता (पुरेन से पानी जुदा रहता है) अथवा जिस तरह वेश्या का प्यार पैसे पर होता है; कामीपुरुष पर नहीं। ठीक उसी तरह जो खाली सम्यग्दर्शन से प्रेम करता है गृहस्थी से नहीं, अतएव जो कीचड़ में पड़े हुए सोने की तरह निर्मल है बस उसी को सम्यग्दृष्टि कहते हैं अर्थात् वही सम्यग्दृष्टि जीव का स्वरूप है।

भावार्थ-

सम्यग्दृष्टि का चलन—व्यवहार इसी तरह का होता है, कारण कि उसके सदैव संसार शरीर व भोगों से विरक्त होने की भावना तो रहती है; किन्तु चारित्रमोहनी कर्म का उदय होने से करणानुयोग के अनुसार त्याग रंचमात्र—नहीं कर सक्ता। इसीलिये बड़े ग्रन्थों (गोम्मटसार वगैरह) में कहा गया है कि "वह न तो इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होता है न त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग कर सक्ता है सिर्फ जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का पूरी तौर से श्रद्धान करता है," इसीलिये अविरत नाम का चौथा गुणस्थान होता है।

और उस सच्चेश्रद्धान की बदौलत ही वह देवपूज्य होता है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि सम्यग्दर्शन के बराबर और दूसरा कोई उत्तम व हितकारी नहीं है। अगर है तो वही सार है। भला देखो तो सही कि उसके रहने से विषय सेवन करते हुए भी निर्जरा होती है और उसके विना दुद्धर तप धारण करने पर भी बंध होता है। वास्तव में इसीसे उसकी अलौकिकी—वृत्ति कही है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन का माहात्म्य (फल) क्या है? इसका उत्तर-

प्रथम नरक बिन षट्भू ज्योतिष,
वान भवन षँढ नारी।
थावर विकलत्रय-पशु में नहिं,
उपजत सम्यक् धारी।
तीन लोक तिहुँ काल मांहि नहिं,
दर्शन सो सुखकारी।
सकल धर्म को मूल यही,
इस बिन करनी दुःखकारी ॥१६॥
मोक्ष महल की परथम सीढ़ी;
या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै सो दर्शन,
धारो भव्य पवित्रा ॥

शब्दार्थ-

प्रथमनरक=पहिली नरक-पृथ्वी। षट्भू=छह पृथ्वी। ज्योतिष=ज्योतिषी देव। वान=व्यन्तर देव। भवन=भवन वासी देव। षंढ=नपुंसक। नारी-स्त्री। थावर=पंच स्थावर-एकेन्द्री। विकलत्रय=द्वीन्द्रियादि चतुरिन्द्रिय पर्यन्त। उपजत=उत्पन्न होना। सम्यक् धारी=सम्यग्दृष्टिजीव। मूल=जड़। करनी=क्रिया—आचरण। दुखकारी=दुखदायक। महल=मकान। परथम=पहिली। सीढी=पैरी। ज्ञानचरित्रा=ज्ञान और चारित्र। सम्यक्ता=सम्यक्पना—यथार्थपना। लहे=पाता। भव्य=मोक्षाधिकारी।

अर्थ-

सम्यग्दृष्टिजीव (सम्यग्दर्शन के प्रभाव से) मरकर पहिली-नरक भूमि को छोड़-शेष छह नरक भूमियों में, ज्योतिषी व्यन्तर व भवन वासी देवों में, नपुंसक लिंग वालों में, स्त्रियों में, पँच स्थावर और तीन विकलेन्द्रियरूप पशु पर्यायोंमें, उत्पन्न नहीं होते; ऐसा नियम है। अर्थात् सम्यग्दर्शन होने के बाद इनका बंध ही नहीं होता, यह सम्यग्दर्शनका जागता हुवा माहात्म्य है। इसके सिवाय-तीनों लोकों और तीनों कालों में सम्यग्दर्शन के बराबर दूसरा सुख का देने वाला नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण धर्मों की यही जड़-नींव है। इसके बिना जितने व्रत विधान व आचरण हैं वे सब वृथा और दुःख के देने

वाले हैं। अगर सच पूंछा जाय तो एक सम्यग्दर्शन ही मोक्ष रूपी महल की पहिली सीढ़ी (पैरी) है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पना को प्राप्त नहीं होते अर्थात् जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता तब तक ज्ञान, सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता और चारित्र, सम्यक्चारित्र नहीं कहलाता (दोनों ही मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र कहलाते हैं)। इसलिये भव्य पुरुषों को चाहिये कि ऐसे महत्वपूर्ण और पवित्र सम्यग्दर्शन को पहिले धारण करें।

अवशिष्ट (स्वगत)

दौल 'समझ सुन चेत' सयाने।
काल वृथा मत खोवै॥
यह नरभव फिर मिलन कठिन है।
जो सम्यक नहिं होवै॥१७॥

शब्दार्थ-

दौल = ग्रन्थकर्त्ता-पं० दौलतराम जी। समझ = स्वयं जान सुन = दूसरों से सुन। चेत = गुन-अनुभव कर। सयाने = समझदार। नरभव = मनुष्य पर्याय। सम्यक = सम्यग्दर्शन।

अर्थ-

ग्रन्थ कर्त्ता पं० दौलतराम जी अपने आप विचार

करने हैं कि, हे आत्मन्! तूँ स्वयं ऐसा (पूर्वोक्त) जान कर व दूसरों से सुनकर तथा अच्छी तरह गुनकर (अनुभव में लयाकर) अपना कर्त्तव्य कर और व्यर्थ समय मत गमा क्योंकि तूं बडा चतुर और समझदार है। देख यदि यह मनुष्य पर्याय तूंने यों ही (कोरी) खोदी तो फिर तुझे इसका मिलना अति कठिन है वशर्त्ते यदि सम्यग्दर्शन नहीं हुवा तो। इसलिये सम्यग्दर्शन हांसिल कर, तभी इसकी सफलता है ॥१७॥

सारांश (उपसंहार)

तीसरी ढाल में आत्मा के सच्चे हित—सच्चे सुख का लक्षण (स्वरूप) उसकी उत्पत्ति, आधार और प्राप्ति का उपाय वगैरह विशद रूप से बतलाए गये हैं। साथ ही साथ सम्यग्दर्शनादि तीनों का निश्चय (शुद्ध) स्वरूप और अकेले सम्यग्दर्शन का व्यवहार स्वरूप तथा उसके विषयभूत जीवादि सात—तत्त्वों का लक्षण भेद आदि वर्णन किया गया है। इसके सिवाय छह द्रव्य, सम्यग्दर्शन के आठ अंग, पच्चीस दोष, (आठ मद आठ दोष छह अनायतन, तीन मूढ़ता) सम्यग्दर्शन का माहात्म्य, आत्मा का खास कर्त्तव्य बताया गया है ऐसा समझ लेना।

अथ चौथी ढाल प्रारंभ ।

(सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र निरूपण)

नोट—इस ढाल में मुख्यता कर सम्यग्ज्ञान व उसके भेदों तथा सम्यक्चारित्र व उसके भेदों (पंचाणुव्रत वगैरह 'एक-देश चारित्र) का वर्णन किया जायगा। इसके सिवाय सम्य-ग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का माहात्म्य भी बताया जायगा ऐसा समझ लेना।

दोहा-

सम्यक् श्रद्धा धारि पुन, सेवहु सम्यग्ज्ञान ।
स्वपर अर्थ बहु-धर्म जुत, ज्यों प्रकटावन भान ॥

शब्दार्थ-

सम्यक्श्रद्धा=सम्यग्दर्शन । सेवहु=सेवन करना-धारना । सम्यग्ज्ञान=यथार्थज्ञान । स्वपर अर्थ=स्व और पर पदार्थ । बहुधर्मजुत=बहुत धर्मोंकर सहित । ज्यों=जैसे । प्रकटावन=प्रकाशित करने वाला । भान=सूर्य ।

अर्थ-

पहिले सम्यग्दर्शन धारण करके पीछे (बाद में) सम्य ग्ज्ञान को धारण करना चाहिये। कारण कि वह सम्य ग्ज्ञान, अनेक धर्म संयुक्त स्व और पर पदार्थ को सूर्य के समान प्रकाशित करने वाला है।

भावार्थ-

चूंकि सम्यग्दर्शन के बाद सम्यग्ज्ञान होता है परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि दोनों का क्षण भेद है। नहीं, दोनों का एक क्षण होने पर भी पूर्वापर सम्बन्ध है जो कि खुलासा तौर पर अभी कहा जायगा। ऐसी हालत में किसी किसम का विरोध पैदा नहीं होता कारण कि वस्तुस्वरूप ही ऐसा है।

प्रश्न—सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति किस तरह होती है व उसका सम्यग्दर्शन के साथ क्या सम्बन्ध है? मय उदाहरण के बतलाओ? इसका उत्तर—

सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधो।
लक्षण श्रद्धा-जान, दुहू में भेद अबाधो॥
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई।
युगपत् होते हू, प्रकाश दीपकतें होई॥१॥

शब्दार्थ-

साथै=एक साथ। अराधो=कहा गया। श्रद्धा=श्रद्धान करना। जान=जानना-पहिचानना। दुहू=दोनों। अबाधो=बाधा रहित-निराबाध। कारण=हेतु। कारज=फल। युगपत्=एकसाथ-एकक्षण। हू=भी।

अर्थ-

यद्यपि सम्यग्दर्शन के साथ ही (एक क्षण में) सम्यग्ज्ञान होता है; परन्तु हैं दोनों जुदे २। कारण कि लक्षण

दोनों का जुदा जुदा है। जैसे सम्यग्दर्शन का लक्षण 'श्रद्धा' पदार्थों का-श्रद्धान है और सम्यग्ज्ञान का लक्षण 'जान, पदार्थों का-जानना है। और इसीलिये इन दोनों में कोई बाधा नहीं है। इसके सिवाय एक साथ होने पर भी इन दोनों में परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध है। अर्थात् सम्यक्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान उसका कार्य है इसका उदाहरण दीपक है। याने जिस तरह दीपक की उत्पत्ति (तैल व वत्ती का जलना) और उसका प्रकाश साथ ही साथ होता है तो भी लोक में दीपक कारण और प्रकाश कार्य माना जाता है अथवा यों कहिये कि जिस तरह दीपक का प्रकाश और अंधकार का विनाश एक ही समय में होता है फिर भी दीपक का प्रकाश कारण और अंधकारका विनाश कार्य माना गया है। ठीक उसी तरह सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का हाल समझना चाहिये।

प्रश्न—सम्यग्ज्ञान के कितने भेद हैं? इसका उत्तर—

तास भेद दो हैं-परोक्ष परतक्ष, तिनमाहीं-

शब्दार्थ-

तास=उस-सम्यग्ज्ञान। परोक्ष=इन्द्रिय सापेक्ष। परतक्ष= इन्द्रिय निरपेक्ष। तिनमाहीं=तिनमें।

अर्थ-

उस (पूर्वोक्त) सम्यग्ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद हैं। तिनमें-

प्रश्न—परोक्षज्ञान किसे कहते हैं व उसके कितने भेद हैं? इसका उत्तर—

मति श्रुत दोय परोक्ष, अक्ष मनतें उपजाहीं।

शब्दार्थ-

दोय=दोनों। अक्ष=इन्द्रिय। मन=अनिन्द्रिय। उपजाहीं=उत्पन्न होना।

अर्थ-

जो इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है उसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं। उसके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ऐसे दो भेद हैं।

भावार्थ-

प्रायः जितने क्षायोपशमिक ज्ञान हैं वे सब इन्द्रिय और मनकी सहायता से उत्पन्न होते हैं। ऐसी परिस्थिति में मति और श्रुत ये दो ज्ञान भी परोक्ष ही हैं, कारण कि ये भी इन्द्रिय व मनकी सहायता रखते हैं व क्षयोपशम रूप भी हैं। लोक व्यवहार में इनको प्रत्यक्ष भी कहते हैं। मतिज्ञान उसको कहते हैं जो पाँच इन्द्रिय व मन में से किसी की भी सहायता से उत्पन्न हो। उसके स्मृति वगैरह व अवग्रहादि वगैरह ३३६ भेद होते हैं। तथा श्रुतज्ञान उस कहते

हैं जो मतिज्ञान पूर्वक विशेषतारूप (अर्थान्तररूप) ज्ञान होता है। अर्थात् मतिज्ञान ने जिस पदार्थ को जैसा जाना है श्रुतज्ञान उस पदार्थ को उससे विलक्षण ही जानता है। उसके भी स्वार्थ व परार्थ ऐसे दो भेद होते हैं । श्रोत्र को छोड शेष इन्द्रियों से होने वाले मतिज्ञान पूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है वह स्वार्थ श्रुत कहलाता है । और खाली श्रोत्र इन्द्रिय से होने वाले मतिज्ञान पूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है वह परार्थश्रुत कहलाता है । उसके भी अंगबाह्य व अंगप्रविष्ट वगैरह अनेक भेद है ।

प्रश्न—प्रत्यक्षज्ञान किसे कहते हैं व उसके कितने भेद है? इसका उत्तर—

अवधिज्ञान मनःपर्यय, दो हैं देश प्रत्यच्छा ।
द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिये, जाने जिय स्वच्छा ॥२॥

शब्दार्थ—

देश प्रत्यच्छा = एकदेश (किंचित्) प्रत्यक्ष । द्रव्य = पदार्थ । क्षेत्र = स्थान । परिमाण = सीमा । जाने = पहिचाने । जिय - जीव स्वच्छा = स्पष्ट-निर्मल ।

अर्थ—

जो ज्ञान इन्द्रिय व मनकी सहायता के विना ही पैदा होता है उसको प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। उसके देश प्रत्यक्ष व सकल प्रत्यक्ष ऐसे दो भेद हैं। तिनमें अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान ये दो देश प्रत्यक्ष हैं, कारण

कि ये दोनों द्रव्य व क्षेत्र की सीमा लिये हुए पदार्थों को एक देश स्पष्ट जानते हैं।

भावार्थ-

द्रव्य-क्षेत्र-काल—भाव की मर्यादा लेकर रूपी पदार्थों को जो एक देश स्पष्ट जानता है उसको अवधिज्ञान कहते हैं। और द्रव्य-क्षेत्र-काल—भावकी मर्यादा लेकर दूसरे के मनमें स्थित रूपी पदार्थों को जो एक देश स्पष्ट जानता है वह मनःपर्यय ज्ञान कहलाता है। ये दोनों ही ज्ञान अपने कार्य करने (जानने) में इन्द्रियादिक की अपेक्षा नहीं रखते; केवल आत्मा की विशुद्धता चाहते हैं। इसीलिये इनको प्रत्यक्ष कहते हैं। अवधिज्ञान के देशावधि—परमावधि—सर्वावधि ऐसे कई भेद हैं। व मनः पर्ययज्ञान के ऋजुमति—मनःपर्यय व विपुल मति—मनःपर्यय ऐसे दो भेद हैं। विशेष बड़े ग्रन्थों से समझ लेना।

प्रश्न—सकल प्रत्यक्ष किसको कहते हैं व वह किसके होता है? इसका उत्तर—

सकल द्रव्य के गुन, अनंत पर्याय अनंता।
जानै एकै काल; प्रगट केवलि भगवन्ता॥

शब्दार्थ-

गुन=सहभावी-सहचर। पर्याय=क्रमभावी-विनश्वर। एकै काल=एक समय-युगपत्। प्रगट्=प्रत्यक्ष। केवलि भगवन्ता=केवली भगवान्।

अर्थ-

सम्पूर्ण द्रव्यों व उनके अनन्त गुण और पर्यायों को एकही साथ जो हस्तरेखावत् स्पष्ट जानता है उसको सकल प्रत्यक्ष कहते हैं और वह केवली भगवान् के होता है दूसरों के नहीं। इस तरह परोक्षज्ञान के २ व प्रत्यक्ष ज्ञान के ३ कुल ५ भेद सम्यग्ज्ञान के होते हैं।

नोट—यहां तक सम्यग्ज्ञान के भेद बताए आगे उसका माहात्म्य और स्व—कर्त्तव्य बताते हैं—

ज्ञान समान न आन, जगत में सुख को कारन।
यह परमामृत जन्म, जग मृत-रोग निवारन ॥३
कोटि जनम तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिनमें, त्रिगुप्ति तें सहज टरैं ते॥
मुनि व्रत धार अनन्त-वार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान-विना सुख लेश नपायो ॥४
तातें जिनवर कथित--तत्त्व अभ्यास करीजै।
सँशय विभ्रम मोह, त्याग आपो लख लीजै॥
यह मानुष-पर्याय, सुकुल सुनिवो जिनवानी।
इह विधि गये न मिलै, सुमनि ज्यां उदधि समानी॥५

धन समाज गजबाज, राज तो काज न आवे ।
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावे ॥
तास ज्ञान को कारन, स्वपर विवेक बखानो ।
कोटि उपाय बनाय, भव्य ताको उर आनो ॥६॥
जे पूरब शिव गये, जाहिं अब आगे जै हैं ।
ते सब महिमा ज्ञानतनी, मुनिनाथ कहे हैं ॥
विषय चाह दवदाह, जगत् जन अरनि दझावै ।
तास उपाय न आन, ज्ञान घनघान बुझावै ॥ ७॥

शब्दार्थ—

ज्ञानसमान=ज्ञान के बराबर । आन=दूसरो । परमामृत=उत्कृष्ट अमृत । निवारन=नाश करने वाला । कोटि=करोड़ ज्ञानबिन=बिना ज्ञान के-अज्ञानी । झरैं=खिरैं-नष्ट होवें । त्रिगुप्ति=मनवचनकाय का निरोध । सहज=साधारण-बिना प्रयास । टरैं=दूर होवें । मुनिव्रत=महाव्रत । ग्रीवक= सोलवें स्वर्ग से ऊपर । उपजायो=उत्पन्न हुवो । आतमज्ञान=आत्मा की पहिचान-सम्यग्ज्ञान-स्वानुभव । लेश=रंचमात्र । जिनवर कथित=जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे गये । तत्त्व=जीवादि पदार्थ । अभ्यास करीजे=पढ़ना-स्वाध्याय करना-जानना । संशय=सन्देह विभ्रम=विपर्यय-उल्टा । मोह=अनध्यवसाय (तीनदोष) आपो आत्मा । मानुषपर्याय=मनुष्य जन्म । सुकुल=उत्तम कुल । सुनिवो=सुनना । जिनवानी=जैनशास्त्र । इहविधि=इस प्रकार ।

सुमनि=चिन्तामणि-रत्न । उदधि=समुद्र । समानी=गिरना । समाज=कुटुम्ब परिवार या नौकर चाकर । गज=हाथी । वाज=घोड़ा । अचल=निश्चल-स्थिर । स्वपर=अपना और पराया । विवेक=भेद ज्ञान । जाहिं=जा रहे । जैहैं=जाँयगे । महिमा=माहात्म्य । ज्ञानतनी=ज्ञान सम्बन्धी । मुनिनाथ= गणधरादि श्रेष्ठ पुरुष । दवदाह=दमार-दावानल । जगतजन= संसारीजीव । अरनि=जंगल । दभावे=जलावै । घनघान= मूसलाधार जल । बुझावे=शान्त करे ।

अर्थ-

सम्यग्ज्ञान के बराबर संसार में और कोई दूसरा पदार्थ सुखका करने वाला नहीं है। यह सम्यग्ज्ञान, जन्म जरा और मरण रूपी रोग को नाश करने के लिये उत्कृष्ट अमृत के समान है। इतना ही नहीं, किन्तु करोड़ो जन्म तपश्चरण करने पर भी ज्ञान के बिना अज्ञानी (मिथ्या दृष्टि) जीवों के मुश्किल से जितने कर्म खिपते हैं उतने ज्ञानी (सम्यग्ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि) जीवों के क्षण भर में तीन गुप्तियों के सहारे से सहज ही (विना प्रयत्न के) नष्ट हो जाते हैं। देखो महाव्रत धारण कर करके अनन्त वार नव ग्रैवेयिक पर्यन्त चला जाता है, परन्तु फिर भी विना उस आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के रंच मात्र भी सुख नहीं पाता। (व्यर्थ ही आकुलित होकर दुःखी

बना रहता है (कभी शान्ति नहीं पाता) इसलिये सदैव जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे हुए तत्वों का अभ्यास व मनन करना चाहिये और संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय इन तीन मिथ्याज्ञानों से रहित शुद्ध आत्म-स्वरूप की पहिचान कर लेनां चाहिये। तभी भला हो सक्ता है। नहीं तो यह दुर्लभ मनुष्य पर्याय, लोक मान्य कुल (जैन कुल) और जिनवाणी (जैन धर्म) का समागम, इन तीनों रत्नों के व्यर्थ चले जाने पर फिर इनका मिलना अति कठिन है। जिस तरह चिन्तामणि रत्न के समुद्र में गिर जाने पर फिर उसका मिलना नितान्त कठिन है। अर्थात् वार २ इनको मिलना असँभव है। इसलिये यह अपूर्व मौका हाथ से व्यर्थ नहीं खो देना चाहिये, किन्तु स्व कर्त्तव्य पालन करना चाहिये व विचार करना चाहिये कि, धन दौलत-कुटुम्ब परिवार नौकर चाकर हाथी घोड़ा राज पाट (हुकूमत वगैरह) आदि कोई काम नहीं आते, ये सब विनश्वर और अशान्ति कारक हैं। अतएव अपने को ज्ञान मय हो जाना चाहिये, कारण कि ज्ञानमय स्वरूप होजाने पर फिर अचल(अविनश्वर-नित्य)अवस्था हो जाती है। और उस ज्ञान का कारण स्व और पर का विवेक (भेद ज्ञान) है। अतएव भव्य पुरुषों को चाहिये कि करोड़ों उपाय बनाकर भी उसे प्राप्त करें। देखो-पूर्व काल में

जितने जीव मोक्ष को गये हैं व वर्त्तमान में जा रहे हैं तथा भविष्य में जांयगे, वह सब बदौलत (महिमा) ज्ञान की ही है, ऐसा श्री गणधरादि श्रेष्ठ पुरुषों ने कहा है । विषय की चाह रूपी दमार संसोरी प्राणी रूप जंगल को हमेशा जलाती है, किन्तु उसके शान्त करनेका उपाय सिवाय एक ज्ञानरूपी मूसलाधार-वृष्टि के दूसरा नहीं है । अतएव जिस तरह बने सर्व-सुख-शान्ति के मूल उस ज्ञानको जरूर प्राप्त करे । अर्थात् उस सम्यग्ज्ञान के होने पर सभी अभीष्ट सिद्धियां हो जाती हैं और फिर कोई खटका व व्याधि नहीं रहती है । इस तरह सम्यग्ज्ञान का माहात्म्य कहा गया ।

प्रश्न—पूर्वोक्त सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाने पर क्या करना चाहिये ? इसका उत्तर—[शिक्षा के रूप में सातिशय सम्यग्दृष्टि का स्वरूप व विचार कहते हैं]

पुण्य पाप फल माहिं, हरष विलखो मत भाई ।
यह पुद्‌गल पर्याय, उपज विनशैं थिरता (ना)ई ॥
लाख बात की बात, यही निश्चय उर लावो ।
तोरि सकल जग दंद-फंद निज आतम ध्यावो ॥८

शब्दार्थ-

पुण्य = धर्म-साताकर्म । . = अधर्म-असाता कर्म । हरष =

राग-आनन्द । विलखौ=द्वेष करना-दुःख मनाना । थिरनाहिं=स्थिर नहीं विनाशीक ।

अर्थ–

भाइयो! सम्यग्ज्ञानी जीव का कर्त्तव्य है कि सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्र प्राप्त हो जाने पर–पुण्य और पापकर्म के फल विषैं कभी भी हर्ष–विषाद (राग–द्वेष) नहीं करे। कारण कि यह (पुण्य-पाप का फल) पुद्गल द्रव्यकी पर्यायहैं, इसलिये हमेशा उपजती विनशती रहती है–किन्तु कभी स्थिर नहीं रहती। यह (शिक्षा) लाख बातों की एक बात समझो और वैसा ही हृदय मे विश्वास लावो तथा संसार के सँपूर्ण आडम्बरों (प्रवृत्ति मार्ग) और बन्धनों को त्याग कर एक अपनी आत्मा का ध्यान करो अर्थात् चारित्र की तरफ उन्मुख होओ याने स्वरूपाचरण चारित्र को धारण करो ऐसा ग्रन्थकार का उपदेश है।

भावार्थ–

अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को व्रत के प्रति सन्मुख होने के लिये उपाय बतलाते हैं याने सातिशय सम्यग्दृष्टि का क्या कर्त्तव्य है? इसका खुलासा किया जाता है। सातिशय सम्यग्दृष्टि [जिसको व्रत की तरफ रुचि होने लगती है] जीव विचार करता है कि साता [सुखद] और असाता [दुःखद] सामग्री [धन दौलत, स्त्री पुत्रादि समस्त परिग्रह] का मिलना पुण्य–पाप कर्म के अधीन है–जैसा कर्म का उदय होता है वैसा ही निमित्त मिलता है! याने वैसी ही कुल

सामग्री मेली हो जाती है। इसलिये उसमें हर्ष-विषाद या इष्टानिष्ट कल्पना [राग-द्वेष] क्यों करना ! अर्थात् पुण्य कर्म के फल में हर्ष क्यों मनाना व पाप कर्म के फल में दुःख क्यों करना; कारण कि यह सब पुद्गल (जड) की पर्याय है। इसलिये सदा एकसी (स्थिर) नहीं रहती, किन्तु कभी उत्पन्न होती है और कभी विनश जाती है. तब चिन्ता किस बात की ? ऐसा ख्याल कर सम्यग्दृष्टि जीव कभी अपने श्रद्धान से च्युत नहीं होते और आत्मध्यान में रत होते हुए चारित्र धारण करने के (व्रताचरण के) प्रति उन्मुख होते हैं। अर्थात् उस दशा में ससार का कोई भी कार्य उन्हें नहीं सुहाता सिवाय एक व्रत की लालसा के। और ऐसा होना ही चाहिये।

नोट—आगे इसीका क्रमवार खुलासा किया जाता है अर्थात् सम्यग्ज्ञान के बाद अब सम्यक्चारित्र का वर्णन किया जाता है यथा—

सम्यग्ज्ञानी होय—बहुरि दृढ़ चारित लीजै।
एक देश अरु सकल देश, तसु भेद कहीजै॥

शब्दार्थ—

बहुरि = फिर। दृढ़ = स्थिर-पक्का-अखंड। एकदेश = अणुव्रत। सकलदेश = महाव्रत। कहीजै = कहे जाते।

अर्थ—

जब किसी जीव को सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाय तब उसका (सम्यग्ज्ञानी का) कर्त्तव्य है कि वह अखँड

चारित्र को धारण करे। क्योंकि विना चारित्र के उसकी शोभा नहीं होती अस्तु उस चारित्र के एक देश (अणु व्रत) और सकल देश (महाव्रत) ऐसे दो भेद हैं-ऐसा कहा गया है।

भावार्थ-

संसार में मुख्य-पाप पांच माने जाते हैं यथा-हिंसा १ झूठ २ चोरी ३ मैथुन (अब्रह्मचर्य) ४ परिग्रह (लोभ-वगैरह) ५ वस इनका शक्त्यनुसार थोडा २ त्याग करना अणुव्रत कहलाता है और सर्वथा (विलकुल) त्याग करना महाव्रत कहलाता है। और यह पहिले ही कहा जा चुका है कि आत्मा की शुद्धि के लिये चारित्र वतलाया गया है। ऐसी दशा में क्रमवार—अवस्था के अनुसार उसका वर्णन करना जरूरी है, सो ही दिखाते हैं।

प्रश्न—अहिंसा अणुव्रत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

त्रस हिंसा को त्याग, वृथा थावर न संघारै।

शब्दार्थ-

वृथा-प्रयोजन रहित। संघारै-विघात करना।

अर्थ-

त्रस हिंसा का सर्वथा और स्थावर हिंसा का प्रयो-जन रहित, त्याग करने को अहिंसा अणुव्रत कहते हैं।

भावार्थ-

पंच अणुव्रतों का पालन करने वाले श्रावक (गृहस्थ) हुआ करते हैं और उनके पाँचवाँ गुणस्थान होता है। तथा उनके मुख्य २ ग्यारह दर्जे (प्रतिमाएं) होते हैं; जिनको लोग प्रतिमा शब्द से पुकारते हैं। दूसरी प्रतिमासे आगे (तीसरी से) उनके गृहनिरत और गृहविरत एसे दो भेद होते हैं। याने गृह निरत वे कहलाते हैं जो घर में रहते हुए गृहस्थी से प्रेम रखते हैं। और गृह विरत वे कहलाते हैं जो न तो घर में रहते हैं और न उससे प्रेम रखते हैं; किन्तु इधर उधर धर्मायतनों वगैरह में भ्रमण करते रहते हैं। अथवा घरमें अलहदा रहकर भी उससे कोई ताल्लुक नहीं रखते, केवल स्वाध्याय व ध्यान आदि उत्तम कामों में समय बिताते हैं। इसी गुणस्थान के पाक्षिक, नैष्ठिक व साधक एसे भी तीन भेद हैं-ये प्रतिमाएँ सब नैष्ठिक के ही भेद हैं। इन प्रतिमाओं में पहिली प्रतिमा से ६ वीं तक जघन्य श्रावक व ७ वीं से ९ वीं तक मध्यम श्रावक व १० और ११ वीं वाले उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं। मतलब यह कि त्रस व स्थावर हिंसा का त्याग जहां जितना संभव व विधेय है वह सब संकल्प से ताल्लुक रखता है याने मुख्यता कर हिंसादि पाचों पापों का त्याग संकल्प की अपेक्षा से है—संकल्प करके अणुव्रती पाँचों पापों को नहीं कर सक्ता। इसका तात्पर्य यह है कि लोभ—लालच वश या आजीविका आदि के निमित्त इरादतन (हम तुमको घातते हैं) किसी भी जीवका विघात नहीं कर सक्ता न किसी तरह की तकलीफ दे सक्ता है। लेकिन यह नहीं कि वह कुछ करही नहीं सक्ता

सर्वथा त्यागी हो जाता है । भला जब वह घर में रहता है और गृहस्थी का कुल काम करता है तब उसके कृषि आदि छह कर्मों के निमित्त से होने वाले हिंसादि पांच-पाप बाल २ कैसे बच सक्ते हैं ? कदापि नहीं । नब अगत्या यह खुलासा निकलता हैं कि वह मात्र संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है न कि आरम्भी-उद्योगी और विरोधी इन तीन हिंसाओं का। हां सामान्य कथन से कोई कैसा ही समझ ले किन्तु उसका विशेष इस प्रकार जरूर है । नहीं तो कभी उसका श्रावक अवस्था में निर्वाह हो नहीं सक्ता-पद २ कठिनाई उपस्थित होगी । इससे इस सब कथन का तात्पर्य यह समझना चाहिये कि अणुव्रती से अज्ञान व प्रमाद वश यदि त्रसादिक की कोइ हिंसा हो जाय तो हो सक्ती है—उससे मूल व्रत का भंग नहीं होता किन्तु बुद्धि पूर्वक संकल्प करके (खास इरादे से) त्रसादि हिंसा नहीं हो सक्ती वरना व्रत भंग जरूर हो जायगा। शेष तीन तरह की हिंसा प्रयोजन वश उसके होती ही है ऐसा समझ लेना । यह एक तरह से मध्यम श्रावक तक का खुलासा किया गया है शेष अन्य ग्रन्थों से समझना । इसी प्रकार संकल्प का सम्बन्ध अन्य चार पापों में भी लगा लेना ।

प्रश्न—सत्य अणुव्रत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

पर वध-कार कठोर निन्द्य नहिं वयन उचारै ॥६॥

शब्दार्थ-

पर=दूसरे । वधकार=दुःख देने वाले-मर्म भेदी । कठोर=

कडे-अप्रिय । निन्द्य=असभ्य-बुरे । वयन=वचन । उचारे=कहना ।

अर्थ-

जिससे दूसरों को दुःख पहुंचे-मर्म भेदा जाय, ऐसे कठोर (अप्रिय) और असभ्य वचनों का उपयोग नहीं करना (नहीं बोलना) सत्य अणुव्रत कहलाता है ।

भावार्थ--

यों तो झूठ (असत्य) का त्याग करना—सत्य कहलाता है; किन्तु ऐसा सत्य कथन भी झूठ में शामिल है जो दूसरों को खटके या जिससे दूसरों का नुकसान हो । ऐसी हालत में यहां पर यही पीछे वाला सत्य लिया गया है । सो भी सकल्प पूर्वक लेना साधारण नहीं क्योंकि संकल्प का सम्बन्ध पहिले से चला आ रहा है ।

प्रश्न—अचौर्याणुव्रत किसे कहते है ? इसका उत्तर—

जल मृतिका विन, और नाहिं कछु गहै अदत्ता ।

शब्दार्थ-

मृतिका=मिट्टी । गहै=ग्रहण करना । अदत्ता=विना दिये ।

अर्थ-

जल और मिट्टी को छोड़कर और कोई दूसरी चीजें विना दिये (बिना इजाजत) ग्रहण नहीं करना-अचौर्याणुव्रत कहलाता है ।

भावार्थ-

जो जल (नदी-तालाब-कूप आदि) और मिट्टी (खेत-खदान आदि) खास स्वामी व राजा के सिवाय किसी दूसरे के अधिकार में नहीं है, किन्तु राजा व मालिक की ओर से सर्व-साधारण के निर्वाह के लिये छोड दिये गये है—ऐसे जल व मिट्टी को छोड शेष जल व मिट्टी को-विना उसके स्वामी की आज्ञा प्राप्त हुए-ग्रहण नहीं करना याने अपने उपयोग में नहीं लाना अचौर्याणुव्रत कहलाता है । इस प्रकार अचौर्यव्रत का पालन देशव्रती श्रावक कर सक्ता है दूसरा नहीं, ऐसा समझना । मतलब यह कि जो जलाशय व खेत वगैरह आम पबलिक के फायदे के लिये उनके अधिकारियों ने छोड दिये है उनके बाबत आज्ञा लेने की जरूरत नहीं है-उनका उपयोग विना आज्ञा के भी किया जा सक्ता है और व्रत-भग नही होता, किन्तु जो जलाशय वगैरह दूसरो के आधिपत्य (अधिकार) में है, उनको आज्ञा लेना जरूरी है अन्यथा व्रत में दूषण आता है । इसमें इतनी विशेषता और है कि पूर्व से बराबर संकल्प का सम्बन्ध चला आ रहा है । इसलिये जो दूसरों की चीज चोरी के इरादे (चुराने के संकल्प) से-विना उसकी आज्ञा के ग्रहण की जायगी वही चोरी कहलावेगी, किन्तु विना चोरी के अभिप्राय के गलती से या प्रमाद से जो चीज विना इजाजत उपयोग में आ जावेगी वह चोरी नहीं है-वह मामूली व्यवहार है ऐसा समझना । इसी तरह सत्याणुव्रत में भी समझना कि जो असत्य (झूठ) खास इरादे से कहा जायगा वही सत्य-व्रत का घातक असत्य (झूठ) पाप होंगा

किन्तु जो अज्ञान या प्रमाद से (सहवन) असत्य निकल जावेगा वह उतना दोषाधायक नहीं होगा न उससे सत्यव्रत का सर्वथा घात होगा. खाली उसमें दोष अवश्य लगेगा ऐसा समझ लेना । लेकिन लोक व्यवहार में चरणानुयोग का व्रत ही व्रत माना जाता है करणानुयोग का नहीं, इसलिये वाह्य में सम्पूर्ण व्रत शुद्ध रखना हीं पड़ेंगे अन्यथा वह व्रती कभी नहीं कहलावेगा. । यह नियम सम्पूर्ण व्रतों मे लगा लेना । कारण कि व्रत अन्तरंग (करणानुयोग) व वहिरंग (चरणानुयोग) दोनों से पाला जाता है ऐसा सिद्धान्त है । अतएव सदैव इस पर दृष्टि रखना चाहिये ।

प्रश्न—ब्रह्मचर्याणुव्रत (स्वदार--सन्तोष--व्रत) किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

निज बनिता विन, सकल नारिसों रहे विरत्ता ।

शब्दार्थ-

बनिता = स्त्री । विरत्ता = विरक्त-त्यागी ।

अर्थ

अपनी स्त्री के सिवाय संसार की समस्त स्त्रियों में विरक्त (राग रहित) होने को ब्रह्मचर्याणुव्रत कहते हैं। इसीका नाम स्वदार-सन्तोष व्रत या कुशील-त्याग व्रत है, ऐसा समझ लेना ।

भावार्थ-

वास्तव में ब्रह्मचर्याणुव्रत वह है जिसमें सँकल्प से स्व

और पर दोनों तरह की स्त्रियों का त्याग हो (सातवीं प्रतिमा) परन्तु यहाँ पर एकदेश त्याग-भाव की अपेक्षा से परस्त्री मात्र के त्याग को भी ब्रह्मचर्याणुव्रत कहा है-जिसका दूसरा नाम स्वदार-सन्तोष व्रत है। इसमें स्वस्त्री में ही संतोष रखना पड़ता है। किसी २ का कहना स्वदार—सन्तोष व परदार-त्याग को एक मानने का है, परन्तु ऐसा नहीं है। स्वदार-सन्तोष का मतलब—समस्त स्त्री-जाति (अपने से भिन्न) के त्याग का है और परदार—त्याग का मतलब खाली पराई (जिसका कोई मालिक—रक्षक हो) स्त्री के त्याग का है। विशेष सागर-धर्मामृत से खुलासा समझ लेना। इससे यह भी ध्वनित होता है कि विना इरादे (संकल्प) के किसी तरह बलात्कार होने में करणानुयोग के अनुसार ब्रह्मचर्याणुव्रत या अन्य व्रत भंग नहीं होता, हाँ चरणानुयोग के अनुसार अवश्य दोष लग जाता है, पर सर्वथा घात नहीं होता ऐसा समझ लेना।

प्रश्न—परिग्रह परिमाण (त्याग) अणुव्रत किसे कहते हैं? इसका उत्तर—

अपनी शक्ति विचार, परिग्रह थोरो राखै।

शब्दार्थ।

शक्ति = सामर्थ्य। परिग्रह = आडम्बर। थोरो = परिमित।

अर्थ—

अपनी शक्ति और योग्यता को ध्यान में रखते हुए परिग्रह को थोड़ा रखना, परिग्रह—परिमाण अणुव्रत कह

लाता है। इसका दूसरा नाम परिग्रह-त्याग व्रत भी है

भावार्थ-

इसमें मुख्यता कर इच्छा को रोकना पड़ना है। जो इच्छा बिना मतलब व प्राप्ति के व्यापक रूप है उसको सब तर्फ से हटाकर सीमित कर देना पड़ना है। फल यह होता है कि निरर्थक पाप का बंध होने से बच जाता है। और महाव्रत धारण करने के लिये अभ्यास होने लगता है। यहां पर पूर्व मे संकल्प का सम्बन्ध चला आता है—इसलिये बिना इच्छा व संकल्प [इरादे) के अज्ञान व प्रमाद वश अनावश्यक अधिक परिग्रह उपस्थित हो जाने पर परिग्रह—परिमाण व्रत भंग नहीं होता खाली उसमें दोष लगता है, ऐसा समझ लेना। इस तरह पांच अणुव्रत कहे गये है। आगे तीन गुण-व्रता [दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत] को कहते हैं।

प्रश्न—दिग्व्रत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

दश दिशि गमन प्रमान, ठान तसु सीम न नाखै।

शब्दार्थ-

दशदिशि = दशो दिशाएं [पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-नैऋत्य वायव्य, आग्नेय, ईशान, ऊर्ध्व, अधः] प्रमान = सीमा—मर्यादा। नाखै = नाखना-उल्लंघन करना।

अर्थ-

दशों दिशाओंमें जाने आनेकी मर्यादा (बड़ी सीमा) करके उससे आगे नहीं जाना आना-दिग्व्रत कहलाता है।

भावार्थ-

दिग्व्रत में व्यापक [लम्बे] काल व क्षेत्र से सम्बन्ध रहता है जैसे—आठों दिशाओं में बडे २ शहरों पहाडों व नदियों वगैरह का प्रमाण कर लेना कि जीवन पर्यन्त मैं इससे आँगे नहीं जाऊं आऊंगा इत्यादि । इस प्रकार प्रमाण हो जाने से उसके आंगाडे इच्छा निरोधरूप तप होता है और तब अनर्थदण्ड रूप पापोर्जन नहीं हो पाता इसलिये व्रती श्रावक को यह जरूर करना चाहिये ।

प्रश्न—देशव्रत नामक गुणव्रत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

ताहूमें फिर ग्राम-गली, गृह-बाग बजारा ।
गमना-गमन प्रमान, ठान अन सकल निवारा ॥

शब्दार्थ-

ताहू = उस-दिग्व्रत । ग्राम = छोटे खेडे कस्बा । गली = छोटी सडक—कूलया । बाग = बगीचा—उपवन । बजारा = हाट—मंडी गमना-गमन = जाना आना । अन = दूसरा । निवारा = त्याग करना

अर्थ-

उस दिग्व्रत में प्रमाण किये हुए क्षेत्र व काल के भीतर ही छोटे खेड़े, गली कूचा, मकान, बगीचा, मंडी आदि में जाने आने का प्रमाण करके, उसके आंगे (काल का नियम करके) सम्पूर्ण क्षेत्रों में जाने आने का त्याग कर देना-देशव्रत नामक शिक्षा व्रत कहलाता है ।

भावार्थ–

दिग्व्रत और देशव्रत मे इतना ही अन्तर है कि दिग्व्रत में लम्बा काल (जीवन पर्यन्त) और लम्बा क्षेत्र [सीमा-प्रदेश] रहता है और देश व्रत में उससे कम[थोडा काल व योग्य क्षेत्र] रहता है । जैसे काल की अपेक्षा एक समय से लेकर महीनों व वर्षों तक और क्षेत्र की अपेक्षा जहाँ २ अपना हर वक्त काम पड़ता है एसे खेड़ों कस्बों व हाट बजारों तक ऐसा समझ लेना ।

नोट—आगे अनर्थदण्ड व्रत का लक्षण व उसके-अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसादान और दुःश्रुति इन पाँच भेदों का वर्णन किया जाता है यथा :—

प्रश्न—अपध्यान नामक अनर्थदण्ड—व्रत किसे कहते है ? इसका उत्तर—

काहू के धनहानि, किसी जय-हार न चीतैं ।

शब्दार्थ–

काहू - किसी । धनहानि = रुपया वगैरह का नाश । जय = जीत । हार = पराजय । चींते = चिन्तवन करना ।

अर्थ–

अदेखसका भाव या ईर्षा के कारण ऐसा विचार (चिंतवन) नहीं करना कि–अमुक (किसी) का धन नष्ट होजाय–काम बिगड़ जाय, अमुककी जीत हो जाय अमुक हारजाय आदि–इसीको अपध्यान नामक अनर्थ दण्डव्रत कहते हैं ।

भावार्थ—

खोटे चिन्तवन को अपध्यान कहते हैं जैसे किसी की धन दौलत नष्ट हो जाय-चोरी चली जाय या किसी की जीत होजाय किसी की हार हो जाय आदि । और इस प्रकार घृणित विचार-चिंतवन नहीं करने को अपध्यान अनर्थदण्ड व्रत कहते हैं । बिना प्रयोजन कामों के करने को-अनर्थदण्ड कहते हैं और उनके नहीं करने को-अनर्थदण्ड व्रत कहते हैं ऐसा समझ लेना । यह एक तरह का आर्त्त रौद्र ध्यान है जो संसार का कारण है ।

प्रश्न—पापोपदेश अनर्थदण्ड व्रत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर-

देय न सो उपदेश, होय अघ वनिज कृषी तें ।१२।

शब्दार्थ—

अघ = पाप । वनिज = व्यापार । कृषी = खेती ।

अर्थ—

जिसमें ज्यादह पापबंध होता हो ऐसे व्यापार व खेती वगैरहका उपदेश नहीं देना—पापोपदेश अनर्थदण्ड व्रत कहा जाता है ।

भावार्थ--

लोकनीति में यद्यपि स्वतंत्रता के कारण खेती करना उत्तम बताया गया है तौभी अधिक हिंसा का कारण होनेसे वह (धर्म—नीति में) गर्ह्य [निंद्य] ही है । और इसीलिये उसका करना अनर्थ—दण्ड में शामिल है । उसके उपदेश देने

तककी मनाई है करना तो दूर रहा । इसके अलावा और भी ऐसे व्यापार जिनमें कि हिंसा व छल कपट वगैरह ज्यादह होता है, करना मना है व उनका उपदेश देना भी मना है ऐसा समझ लेना ।

प्रश्न—प्रमादचर्या अनर्थदण्डव्रत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

कर प्रमाद जल भूमि. वृक्ष पावक न विराधे ।

शब्दार्थ-

प्रमाद=आलस्य-शिथिलाचार । पावक=अग्नि । विराधे=नष्ट करना ।

अर्थ-

आलस्य या शिथिलाचार के कारण जल पृथ्वी बनस्पति और अग्नि वगैरह स्थावर (एकेन्द्री) जीवों की हिंसा नहीं करना प्रमादचर्या अनर्थदंड व्रत कहलाता है ।

भावार्थ--

यों तो प्रयोजन सहित, अणुव्रती—श्रावक के पांच स्थावरों की हिंसा होता ही है; किन्तु प्रमाद धारण करके व विना प्रयोजन यदि वह हो तो दोषाधायक जरूर है । नहीं तो निः प्रमाद अवस्था में सावधानी पूर्वक श्रावकोचित षट्कर्म (देव-पूजादि व पंचसूना-कूटना पीसना चूला सिलगाना आदि) के आरम्भ से होने वाली स्थावर हिंसा अनिवार्य होने के

कारण साम्य है-लोग उसे बुरा नहीं कहते किन्तु अवस्था के अनुसार उसे जायज ही मानते है । अतएव प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

प्रश्न—हिंसादान अनर्थ—दण्ड व्रत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

असि धनु हल हिंसोपकरन, नहिं दे जश लाधै ॥

शब्दार्थ—

असि = तलवार । धनु = धनुष । हल = जमीन जोतने का यंत्र । हिंसोपकरन = हिंसा के साधन । जश = कीर्ति । लाधै = लेना-पाना ।

अर्थ-

तलवार धनुष हल वगैरह हिंसा के साधनों को देकर यश प्राप्त नहीं करना अथवा यश पाने की गरज से इन उपर्युक्त चीजों को नहीं देना-हिंसादान नामक अनर्थ दण्डव्रत कहलाता है ।

प्रश्न—दुश्रुति अनर्थदण्डव्रत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

राग द्वेष करतार कथा, कबहू न सुनीजै ।

शब्दार्थ—

करतार = करनेवाली । कथा = किस्सा कहानी । कबहू = कभी । सुनीजै = सुनना ।

अर्थ—

जिससे आत्मा में रागद्वेष वगैरह विकारभाव पैदा

हों ऐसी कथा–कहानियों (स्त्री कथा १ राष्ट्रकथा २ भोजन कथा ३ चोरकथा ४) का नहीं सुनना–दुःश्रुति अनर्थ दंडव्रत कहलाता है।

अवशिष्ट–

औरहु अनरथदंड हेतु, अघ तिन्हें न कीजै ॥ १२

शब्दार्थ–

औरहु = और–दूसरे । हेतु = कारण । कीजै = करना ।

अर्थ–

इन उपर्युक्त अनर्थदंडो के सिवाय और भी जो पाप के कारण हैं उनको नहीं करना–सो भी अनर्थदंड व्रत है। कारण कि मोटे २ रूप से अनर्थदंडो के ५ नाम बताए गये हैं–वाकी असंख्यात भेद हो सक्ते हैं ऐसा समझना। इस तरह से ३ गुणव्रत कहे। आगे सामायिक १ प्रोषधोपवास २ देशावकाशिक ३ वैयावृत्य ४ इन चार शिक्षाव्रतों को कहते हैं यथा—

प्रश्न—सामायिक शिक्षाव्रत किसे कहते हैं? इसका उत्तर—

धर उर समता भाव, सदा सामायिक करिये।

शब्दार्थ-

उर = हृदय--आत्मा । समताभाव = निर्विकल्पकपना-शान्तता। सामायिक = आत्मध्यान । करिये = करना चाहिये ।

अर्थ-

हृदय (आत्मा) में समताभाव धारण करके अर्थात् निर्विकल्पक होकर सदा (त्रिकाल) आत्मध्यान करने को-सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं ।

भावार्थ-

समय शब्द का अर्थ है आत्मा और उस आत्मा में विचरण करने (ध्यान धरने) का नाम है--सामायिक । अर्थात् सब तरफ से (विकल्पों से) चित्त को हटाकर आत्मा में एकाग्र (लीन) करने को सामायिक कहते हैं । तथा शिक्षाव्रत उसे कहते हैं जिससे मुनि—धर्म की शिक्षा मिले । ऐसी हालत में इन चारों ही शिक्षाव्रतों से भविष्य में मुनिधर्म पालने की खासी शिक्षा मिलती है- इसलिये इन चारों को शिक्षाव्रत कहते हैं । यहाँ पर प्रसग—वश थोडी सामायिक की विधि भी बताते हैं यथा—चारों ही दिशाओं में से किसी भी दिशा की तरफ मुंह करके खडे होना और खड़े २ ही नौवार नमोकार मत्र जपना तथा तीन आवर्त्त (दोनों हाथों को सपुटित करके याने आपस में बन्द कमल की तरह आकार बनाके तीन वार घुमाना) करके एक प्रणाम (शिरोनति) करना । बाद में दूसरी दिशाको घूम जाना (मुंह फेर लेना) और उसी तरह (पूर्व दिशा की नाई) नौवार मंत्र जाप—तीन आवर्त्त—एक प्रणाम करना और घूम जाना । इस तरह करते २ जब चारों ही दिशाएं पूरी हो जांय याने जिस दिशा से प्रारभ किया था उसी दिशा पर क्रमवार विधि करते २ आजाँय, तब जमीन

पर घुटना लगा साष्टाङ्ग नमस्कार कर या तो पद्मासन बैठ जाना या खड़े होकर १०८ बार या शक्ति के अनुसार दो घड़ी—चार घड़ी—छह घडी, तक किसी भी मंत्र को जपना और खतम होने के बाद फिर भी वही क्रम शुरु करना जो प्रारंभ करते वक्त किया था। जब प्रारंभ से लेकर समाप्ति तक पूरी क्रिया हो जाय याने एक २ दिशा के १८ अठारह २ मंत्र जाप, छह २ आवर्त्त, दो २ प्रणाम हो जांय, तब सामायिक की विधि व सामायिक पूरी होती है। ऐसा समझकर विधि पूर्वक ही सामायिक करना चाहिये तभी उसका सच्चा व पूरा फल मिलता है।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

पर्व चतुष्टय माहिं, पाप तज प्रोषध धरिये।

शब्दार्थ—

पर्व=त्योहार--पवित्र दिन। चतुष्टय=चार (दो अष्टमी दो चतुर्दशी) प्रोषध=एकाशन या एकाशन सहित उपवास।

अर्थ—

अष्टमी चतुर्दशी के हिसाब से—एक महीना के चार पर्वों (शुभ दिनों—पवित्र दिनों—त्योहारों) में योग्यतानुसार पाप कार्यों (हिंसादि पांच पापों) का त्याग करके प्रोषध सहित उपवास करने को—प्रोषधोपवास शिक्षा व्रत कहते हैं।

भावार्थ--

अष्टमी व चतुर्दशी अत्यन्त मान्य व व्रत के दिन माने गये

हैं । इसलिये उस दिन सर्व साधारण को व खासकर व्रतीश्रावक को श्रद्धा व शक्ति के अनुसार आरँभ—परिग्रह (पापायतन) छोडकर एकाशन व उपवास जरूर करना चाहिये । ऐसा करने से करने वालों की अन्तर आत्मा पवित्र होती है और उससे स्वर्गादि उत्तम फल मिलता है । इसकी विधि इस प्रकार है कि, अष्टमी व चतुर्दशी के एक दिन पहिले (सप्तमी व त्रयोदशी को) दो पहर (१२ बजे) से एकाशन करके उत्कृष्ट उपवास का संकल्प करले याने उसी वक्त से चारों प्रकार के (खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय) आहार का त्याग करके विषय-कषायों और आरंभ परिग्रह का परिमाण कर लेले, बाद में जब पूरे १६ पहर (४८ घंटा) हो जावें याने पहिले दिन के दो पहर से तीसरे दिन के दो पहर बीत चुकें तब पूजन दान वगैरह उत्तम कामों को करके पारणा (एकाशन) करे । यह १६ पहर का उत्कृष्ट पोषधोपवास कहलाता है । मध्यम १२ पहर का होता है—उसमें एक दिन पहिले व पीछे एकाशन की विधि नहीं है । खाली उपवास के दिन की पहिली शाम से लेकर दूसरे दिन के सुबह तक ही चारों प्रकार के आहार का त्याग करना पडता है । तथा जघन्य ८ पहर का होता है-उसमें केवल उपवास के दिन सुबह से लेकर दूसरे दिन सुबह तक ही व्रत रखना पड़ता है ऐसा समझना । उपवास भी तीन तरह का होता है—उत्कृष्ट उपवास, ८ पहर तक सर्वथा निर्जल व अनाहार रहने को कहते हैं । मध्यम उपवास--बीच में एकाधबार थोडा जल मात्र ले लेने को भी कहते हैं । तथा जघन्य उपवास—अल्पाहार ले लेने को भी कहते हैं । कारण कि यह सब शक्ति पर निर्भर है । ऐसे उपवास चौथी प्रतिमा (प्रोषध) धारी कर सका है- ऐसा समझ लेना ।

प्रश्न—देशावकाशिक शिक्षाव्रत किसे कहते है? इसका उत्तर—

भोग और उपभोग, नियम कर ममतु निवारै ।

शब्दार्थ-

भोग=जो एकबार भोगने में आवे । उपभोग=जो बार २ भोगने में आवे । नियम=मर्यादा (कालावधि) परिमाण । ममतु=ममता—मूर्च्छा । निवारि=त्याग करना ।

अर्थ-

किसी निश्चित काल तक—भोग और उपभोग (पंचेन्द्रिय के विषय) का नियम—करके उसके भीतर भोगादिक सम्बन्धी मूर्च्छा (ममत्व—आकांक्षा) का त्याग करना देशावकाशिक—शिक्षाव्रत कहलाता है। अथवा भोगोपभोग का परिमाण करके बाकी में ममत्व परिणाम के त्याग करने को भी देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहते हैं।

भावार्थ-

जिसमें काल की मर्यादा (जीवन के भीतर काल की अवधि समय पल घड़ी दिन मास वर्ष वगैरह) है वह नियम कहलाता है और जिसमे काल की मर्यादा नहीं है (जीवन पर्यन्त) उसे यम कहते है । सो त्याग नियम और यम दोनो तरह का होता है । यहां पर त्याग नियम रूप बतलाया है । इसी तरह भोग उसे कहते है जो एकबार भोगने में आता है—जैसे भोजन वगैरह। और उपभोग उसे कहते है जो बार २ भोगने में आता है—जैसे कपड़े वगैरह । इस लिहाज से जितने काल तक

देशावकाशिकव्रती ने जिन भोगोपभोगों का नियम (त्याग) किया है उतने काल तक वह उनकी तरफ दृष्टिपात या लालसा नहीं कर सक्ता अथवा जिनका खाली नियम (परिमाण-मर्यादा) मात्र किया है उनके अलावा अन्य में भी लालसा आदि नहीं कर सक्ता ऐसा समझना ।

प्रश्न—वैयावृत्य शिक्षाव्रत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

मुनिको भोजन देय, फेर निज करहिं अहारै ॥१३

शब्दार्थ–

मुनि=दिगंबर साधु । फेर=बाद । अहारे=भोजन ।

अर्थ–

मुनि आदि सत्पात्रों को भोजन पान कराकर बाद में स्वयं आहार करना, वैयावृत्त्य शिक्षाव्रत कहलाता है। इसी को अतिथि-संविभागव्रत भी कहते हैं।

भावार्थ–

अव्रतीश्रावक (गृहस्थ) से लेकर व्रतीश्रावक तक का यह नित्य कर्म है अतएव अनिवार्य रूप से इसे अवश्य करना चाहिये । हाँ यदि द्रव्य (साक्षात्पात्र) रूप निमित्त न मिले तो भाव रूप (द्वारापेक्षण) निमित्त जरूर मिलाना चाहिये । अर्थात् पात्रदान का अभिप्राय रखकर भोजन (चर्या) के समय अवश्यमेव विधि सहित मुख्यद्वार के बाहिर खडा होकर पात्रों की प्रतीक्षा करे और यदि सौभाग्य से वे आजावें तो पड़गाह दे, नहीं तो सन्तुष्ट रहकर जहाँ तक हो किसी अन्य सहधर्मी

के साथ भोजन करे आदि । इस प्रकार श्रावक के १२ व्रत यहाँ तक कहे गये हैं ।

प्रश्न—इन बारह व्रतों के पालने का क्या क्रम (विधि) है और क्या इनका फल है ? इसका उत्तर—

बारह व्रत के अतीचार, पन २ न लगावै ।
मरन समय सन्यास, धार तसु दोष नशावै ॥
यों श्रावक व्रत पाल– स्वर्ग सोलम उपजावै ।
तंह तें चय नरजन्म पाय, मुनि ह्वै शिवजावै ॥१४

शब्दार्थ–

अतिचार = दोष अथवा कदाचित् विषयप्रवृत्ति । पन२ = पाँच२ । सन्यास = समाधि--विषय कषाय का त्याग । तसु = तिन । दोष = अतीचार । नशावै = नाश करना । श्रावक = पंचम–गुणस्थान वर्त्ती–व्रती । सोलम = सोरहवाँ । उपजावै = पैदा होना । चय = मरकर । शिवजावै = मोक्ष जाना ।

अर्थ--

उपर्युक्त बारह व्रतों को पालते समय उनके पांच २ अतीचार वचाना चाहिये अर्थात् बारह व्रतों को निरतिचार (अतीचार रहित) पालना चाहिये और मरते समय (अन्तिम वक्त) जीवन में उपार्जन किये हुए दोषों (पापों) को नष्ट करने के लिये–समाधि मरण (सल्लेखना) धारण करना चाहिये । ऐसा करने वाला श्रावक–उपर्युक्त

बारह व्रतों को निरतिचार पालने के कारण-सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त जन्म लेता है अर्थात् व्रतों का यह माहात्म्य या फल है। फिर उन स्वर्गों में असंख्याते (सागरों पर्यन्त) वर्ष इच्छित सुख भोगते हुए आयु को पूर्णकर मनुष्य जन्म पाता है और उस मनुष्य पर्याय में मुनिलिंग को धारण कर मोक्ष को चला जाता है अर्थात् उसी पर्याय मे उसे बहुधा मोक्ष मिल जाता है इति।

भावार्थ-

श्रावक (पञ्चम—गुणस्थान—वर्त्ती) तीन तरह के होते हैं— १ पाक्षिक २ नैष्ठिक और ३ साधक। जिनमें से प्रायः सातिशय सम्यग्दृष्टि को पाक्षिक कहते हैं, और बारह व्रतों के पालने वाले को नैष्ठिक कहते हैं, तथा समाधिमरण करने वाले को साधक कहते हैं। इस तरह यहाँ पर तीनों ही श्रावकों का वर्णन किया गया है। साथ २ में उनका क्रम व फल भी बताया गया है। विशेष ग्रन्थान्तरों से समझना।

अथ पंचमी ढाल प्रारंभः

चाल छन्द १४ मात्रा

नोट—चौथी ढाल के अखीर में "मुनि है शिवजावै" ऐसा पद लिखा है। जिसका आशय यह है कि मुनि होकर मोक्ष जाता है, परन्तु यह नहीं बताया गया कि मुनि किस तरह होता है याने मुनि होने का क्या कारण है? इस बात को बताने के लिये पांचमी ढाल में १२ बारह भावनाओं का वर्णन किया जाता है। कारण कि वे बारह भावनाएं वैराग्य को उपजाने के लिये माता के समान है यथा—

मुनि सकल ब्रती बड़भागी, भव भोगन तें, वैरागी ॥
वैराग्य उपावन माई, चिंतो अनुप्रेक्षा भाई ॥ १ ॥
इन चिंतत समरस जागै, जिमिज्वलन पवन के लागै।
जबही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख थानै ॥२

शब्दार्थ—

सकलव्रती = सब व्रतों को पालने वाले-महाव्रती। बड़भागी = बड़े भाग्यवान्। भव-भोगन = संसार व उसके विषय। वैरागी = विरक्त-उदासीन। उपावन = उत्पन्न करने वाली। माई = माता। चिन्तो = विचार करो। अनुप्रेक्षा = भावना— बारंवार चिन्तवन। समरस = समतारस—शान्तिपना। जागै = जगता है-उत्पन्न होता

है । जिमि = जैसे । ज्वलन = अग्नि । पवन = वायु--हवा । लागैं = लगने से । जिय = जीव । शिवसुख = मोक्षसुख । थानै = पाता है ।

अर्थ-

सम्पूर्ण व्रतों (महाव्रतों) को पालने वाले मुनि महात्मा बड़े भाग्यवान हैं, कारण कि वे संसार व उसके विषयों से विरक्त होते हैं । परन्तु उस विरक्तता (वैराग्य मुनिपना) रूपी पुत्र को पैदा करने वाली माता के समान निम्न लिखित बारह--भावनाएँ हैं । इसलिये उनका चिन्तवन जरूर करना चाहिये । देखो बारह भावनाओं के चिंतवन करने से शान्तितारूप रस, इस तरह वेग से प्रकट (उत्पन्न) होता है जिस तरह से कि वायु के लगने से अग्नि तेजी से प्रज्वलित होती है । और ऐसा नियम है कि जिस समय यह जीव अपने स्वरूप को जानता है अर्थात् सब झँझटों से बरी होकर शान्तिरस का पान करता है उसी समय मोक्षसुख को पाता है याने उसका अनुभव करता है ।

बारह भावनाएं--

१ अनित्य २ अशरण ३ संसार ४ एकत्व ५ अन्यत्व ६ अशुचि ७ आस्रव ८ संवर ९ निर्जरा १० लोक ११ बोधदुर्लभ १२ धर्म ।

प्रश्न--अनित्य-भावना किसे कहते हैं ? इसका उत्तर--

जोबन गृह गोधन नारी
हय गज जन आज्ञाकारी ॥
इन्द्रिय भोग छिन थाई ।
सुर धनु चपला चपलाई ॥३॥

शब्दार्थ-

जोबन = जवानी-युवावस्था । गृह = मकान । गोधन = गाय भैंस वगैरह व रुपया पैसा आदि । नारी = स्त्री । हय = घोड़ा । गज = हाथी । जन = मनुष्य—कुटुम्ब परिवार वगैरह । आज्ञाकारी = नौकर वगैरह सेवक लोग । इन्द्रियभोग = इन्द्रियों के विषय । छिनथाई = क्षण भर ठहरने वाले क्षणिक—विनश्वर । सुरधनु = इन्द्र धनुष । चपला = विजली । चपलाई = चचल ।

अर्थ-

जवानी, घर-मकान, गाय भैंस, रुपया पैसा, स्त्री पुत्रादि, घोड़ा, हाथी, कुटुम्ब परिवार, नौकर चाकर, इन्द्रियों के विषय, ये सब क्षणभंगुर (क्षणस्थायी-अनित्य) हैं। जिस तरह से कि इन्द्रधनुष और विजली अत्यन्त चँचल और तत्काल विनाशीक है। बस इस प्रकार सँसार के सम्पूर्ण ठाठवाट का विचार (चिंतवन) करना-अनित्य भावना कहलाती है।

भावार्थ--

संसार शरीर व भोगों की अनित्यता सर्वजन प्रसिद्ध है, जिसके लिये पेश्तर कई वार बतला चुके हैं। इसलिये अब थोडे में यही समझ लेना जरूरी हैं कि सम्पूर्ण पदार्थों को अनित्य जान उनमें व्यर्थ का मोह करना फिजूल है। बुद्धिमानों का कर्तव्य है कि ऐसे अनित्य पदार्थों को तिलाञ्जलि देकर वैराग्य का आश्रय लेवें. इसी में मनुष्य जन्म की सफलता है।

प्रश्न—अशरण भावना किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

सुर असुर खगाधिप जेते।
मृग ज्यों हरि काल दलेते॥
मणि मँत्र तंत्र बहु होई।
मरते न बचावे कोई॥४॥

शब्दार्थ-

सुर=-कल्पवासीदेव। असुर=भवनवासीदेव। खग=विद्याधर।-अधिप=राजा—पति। जेते=जितने। मृग=हरिण। हरि=सिंह। काल=मृत्यु। दलेते=दलना-मारना। मणि=मुक्ता फलादि जवाहरात। मत्र=जप वगैरह। तंत्र=औषधि-इलाज। बचावे=रक्षा करना।

अर्थ-

जब कि उपर्युक्त सारे पदार्थ अनित्य हैं तब उनकी रक्षा भी कोई नहीं कर सक्ता। देखो संसार में बड़े २

इन्द्र (सुरपति) नागेन्द्र (असुरपति) खगेन्द्र (विद्या-धर-खगपति) आदि जितने भी पराक्रमी (अलौकिक शक्ति के धारी) जीव हैं वे सब मृत्यु के ंजे में इस तरह आजाते हैं जिस तरह कि शेर के पंजे में विचारा हरिण आकर प्राण गवां देता है । किन्तु उस वक्त उन को मरण से वचाने के लिये न कोई मुक्ताफलादि (मणि) समर्थ होता है न जप-तप पूजापाठ औषधि आदि काम देता है । आयु पूर्ण होने पर सब व्यर्थ हैं-कोईभी किसी की रक्षा नहीं कर सक्ता । ऐसा विचार करना अशरण भावना है ।

भावार्थ-

जब इन्द्रादि महा प्रतापी जीवों का यह हाल है कि उनको भी एक क्षण भर के लिये मरने से कोई नहीं वचा सक्ता तब जन साधारण को तो वात ही क्या है-उनकी तो कोई गिन्ती ही नहीं हैं । इसलिये यह अभिमान करना कि अमुक के पास इतनी विभूति है अमुक इतना प्रतापी है आदि मूर्खता है । वक्त पर (अखीरी समय) कोई शरण (रक्षक) नहीं होते हैं । और जाने दो महावीर स्वामी (अन्तिम तीर्थंकर) को खाली प्रातःकाल हो जाने तक के लिये ही देवों ने कितनी प्रार्थनाएं-पूजाएं कीं मगर एक न चली और झुटपुटे में हो मुक्ति हो गई । इसलिये निचोड़ तत्त्वको समझकर ही काम करना चाहिये, तभो भला हो सक्ता है और इसोसे वैराग्य जगता है इत्यादि ।

संसार—भावना किसे कहते हैं? इसका उत्तर—

चहुँ गति दुःख जीव भरे हैं।
परिवर्त्तन पंच करे हैं ॥
सब विधि संसार असारा।
यामें सुख नाहिं लगारा ॥५॥

शब्दार्थ—

चहुँगति—नरकादि चारों गतियाँ। भरे—भोगे। विधि—तरह। असारा—निःसार। लगारा—लेशमात्र।

अर्थ—

यह जीव नरकादि चारों गतियों में तरह २ के असंख दुःख भोगता हुआ पांच परावर्त्तनों (पूर्वोक्त-पंच परिभ्रमण) को रहँट की घरियों के समान अनुभव (पूरा) करता है, फिर भी सुख शान्ति नहीं पाता। इसलिये तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो सब तरह से संसार असार ही है, इसमें सुख लेशमात्र भी नहीं है। ऐसा विचार करना संसार भावना है।

भावार्थ—

संसार दुःख स्वरूप है और दुःखका देने वाला है। कारण कि संसार की जितनी चीजें (सामग्री) हैं वे सब विनाशीक और पराधीन हैं। इसलिये निरंतर उनके निमित्त से

मोह के वशीभूत होकर दुःख का अनुभव करना पडता है। जो चीज नित्य और स्वाधीन है, सुख उसीमें है जैसे मोक्ष। शेष पदार्थ प्रत्यक्ष देखने में आते हैं कि न तो वे इच्छानुसार मिलते (भेले होते) है और न सदा स्थिर रहते हैं प्रत्युत आकुलता-संक्लेशता आदि उत्पन्न कर नष्ट हो जाते है। जिससे इष्ट वियाग तथा अनिष्ट संयाग जन्य दुःख बना ही रहता है। अतएव यह आगम व अनुभव से मानी हुई (प्रसिद्ध) बात है कि संसार में रंक से लेकर राजा तक कोई भी सुखी नहीं है। हां ऊपरसे देखने वालो को चाहे भले ही सुखी मालूम पड़ता हो पर है यह सर्वथा भ्रम। इसलिये महांपुरुषों को इस संसार से भयभीत हुए जान अपने को भी विरक्त होना चाहिये और वह विरक्तता विना उसके स्वरूपका विचार किये हो नहीं सकी, इसलिये उसके स्वरूपका विचार अवश्य करना चाहिये। चारों गतियों के दुःख पेश्तर बताही चुके है इसलिये फिर बताना व्यर्थ है. बस यही समझो कि संसार में कोई सार नहीं है सब असार व तुच्छ है इत्यादि।

प्रश्न—एकत्व भावना किसे कहते है? इसका उत्तर—

शुभ अशुभ कर्मफल जेतें।
भोगे जिय एकहि ते ते॥
सुत दारा होय न सीरी।
सब स्वारथ के हैं भीरी॥६॥

शब्दार्थ-

शुभ=पुण्य । अशुभ=पाप । एकहि=अकेला । ते ते=वे सब । दारा=स्त्री । सीरी=सोंझिया-शामिलसरीख । भीरी=भरे—पगे ।

अर्थ-

पुण्य और पाप-कर्मों का जो फल है उसको अकेला एकही जीव भोगता है किन्तु उसके भोगने में न पुत्र भागीदार (सोंझिया-सरीख) होता है न स्त्री वगैरह कुटुम्ब परिवार; कारण कि वे सब मतलब के यार हैं अर्थात् अपने २ स्वार्थ से भरे हुए हैं। ऐसा विचार करना एकत्व-भावना कहलाती है।

भावार्थ-

संसार में स्वार्थ एक ऐसी चीज है कि उसके पीछे ना कोई नाता-रिश्ता देखा जाता है न कुटुम्ब परिवार, फिर जाति—बिरादरी व लोक—लज्जा की तो बात ही क्या है? जबतक जिसका जिससे मतलब सरता है तबतक वह उस का कहने मात्र को समझो, वाद में कोई किसी का नहीं है। व्यर्थ ही यह जीव मोह—माया वश दूसरों के पीछे पाप-पुण्य करता है और उन्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा करता है। देखो! जरा २ से स्वार्थ सधने या स्वार्थभंग होने पर अपनी स्त्री भी वैधव्य का ख्याल न कर पति तक को मरवाडालती है। पिता पुत्र को व पुत्र पिता को, भाई भाई को और मामा भानजे

को तो न मालूम किस २ तरह अत्याचार करता है सो सबके अनुभव-गोचर है, लिखने की जरूरत नहीं ! इसके उदाहरणों से पुराण व इतिहास भरे पड़े हैं। परन्तु इसलोक व परलोक दोनों में सजा एकही भोगता है, उसवक्त कोई सगा-साथी नहीं होता ऐसा विचार करना एकत्त्व—भावना है ।

प्रश्न—अन्यत्त्व—भावना किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

जल पय ज्यों जियतन मेला।
पै भिन्न २ नहिं भेला ॥
तो प्रकट् जुदे धन धामा ।
क्यों हों इक मिल सुत रामा ॥८॥

शब्दार्थ-

पय = दूध । तन = शरीर । मेला = मेल-मिलाप । भेला = इकट्ठा। धामा = मकान वगैरह । रामा = स्त्री ।

अर्थ-

जिस तरह जल और दूधका मेल है उसी तरह शरीर और आत्मा का भी अनादि काल से घनिष्ट सम्बन्ध (मेल) है, फिर भी दोनों (स्वरूपादिक की अपेक्षा से) जुदे २ हैं। तब फिर प्रत्यक्ष में अत्यन्त दूर दिखने वाले महल मकान रुपया पैसा स्त्री-पुत्र वगैरह पदार्थ कैसे एक (जीव से अभिन्न) हो सक्ते हैं ? कभी नहीं, ऐसा

विचार करना अन्यत्व भावना है।

यहां प्रश्न—

एकत्व और अन्यत्व भावना में क्या भेद है? जब कि दोनों एकसी मालूम होती हैं?

ताका उत्तर—

दोनों भावनाओं में कई तरह से भेद पाया जाता है देखो! (१) एक तो यह कि एकत्व भावना में अपने (आत्मामात्र) से सम्बन्ध जोडने की मुख्यता है, और अन्यत्व भावना में पर से सम्बन्ध तोड़ने की मुख्यता है इसी को विधि (प्रवृत्ति) और निषेध (निवृत्ति) कहते हैं। अर्थात् खाली अपनी ही जिम्मेवारी पर याने अपने ही बलबूते पर सब कुछ करना किसी दूसरों का बल-भरोसा नहीं करना यह तो विधि या प्रवृत्ति है। तथा दूसरों से तबियत को हटाना उनसे ताल्लुक नहीं जोड़ना निषेध या निवृत्ति कहलाती है। मतलब यह कि एकत्वभावना विधि-प्रवृत्ति रूप है और अन्यत्वभावना निषेध-निवृत्ति रूप है (२) भेद, 'हेतु हेतुमद्भाव या कार्य कारण भाव का है। अर्थात् एकत्वभावना हेतुमान है और अन्यत्वभावना हेतु है या एकत्वभावना कार्य है और अन्यत्व भावना कारण है। जिसका खुलासा यह है कि, जब यह सवाल होता है कि केवल आत्मामात्र में प्रवृत्ति क्यों करना या केवल आत्मा से सम्बन्ध क्यों रखना? तब उत्तर मिलता है कि 'परेषां भिन्न (अन्य) त्वात्, अर्थात् स्त्री पुत्रादि पर पदार्थों के भिन्न (अन्य) होने से। इससे यह स्पष्ट है कि एकत्वभावना कार्यरूप है और अन्यत्वभावना कारणरूप है या एकत्वभावना हेतुमान है और अन्यत्वभावना हेतु है.

बस यही दोनो में भेद पाया जाता है सो समझ लेना।

प्रश्न—अशुचिभावना किसे कहते हैं? इसका उत्तर—

पल रुधिर राध मल थैली।
कीकस बसादि तें मैली॥
नव-द्वार बहै घिनकारी।
असदेह करै किम यारी॥८॥

शब्दार्थ-

पल=मांस। रुधिर=रक्त-खून। राध=पीव। मल=टट्टी पेशाव वगैरह दोष। थैली=घर। कीकस=हड्डी। वसा=चर्बी। मैली=मलीन-अपवित्र। नवद्वार=नौ दरवाजे (आँखें २ नकुआ २ मुंह १ गुदा १ पेशाब की जगह १=९) बहै=झिरै। घिन-कारी=घिनावना। अस=ऐसी। किम=क्यों। यारी=दोस्ती-प्रीति।

अर्थ-

यह शरीर, रक्त मांस पीव टट्टी पेशाव वगैरह मलों का घर है और हड्डी चमड़ा चर्बी आदि चीजों से मलीन (अपवित्र) हो रहा है तथा नव द्वारों से सदैव मल बहाता है अतएव घिनावना है। फिर एसे बीभत्स (ग्लानियुक्त) शरीर से प्रीति क्यों करना? कभी नहीं। ऐसा विचार करना अशुचि भावना कहलाती है।

भावार्थ-

अशुचिभावना का मतलब शरीर की अपवित्रता के विचार करने का है, जिससे कि उसमें अधिक प्रीति न बढ़े। कारण कि शरीर में अधिक स्नेह हो जाने से दिनरात्रि यह जीव उसी की गुलामी और परवरिश में लगा रहता है-कभी भी धर्म—साधन की तरफ लक्ष नहीं करता (दौड़ाता) ऐसी दशा में शरीर से उदासीनता होने का एकमात्र यही साधन है कि उसके स्वरूप का चिंतवन करने लग जाय। देखो! इस शरीर के साथ सम्बन्ध होने से अच्छी २ सुगंधित और पवित्र चीजें (चँदन अतर फुलेल वगैरह) भी दुर्गंध—मय और अपवित्र (गिनावनी) हो जाती हैं। और यदि चमड़ा से न ढंका हो (उघड़ा हो) तो लाल २ अंगार जैसे महान् भयंकर और घृणायुक्त मांसपिंड को चील कबूतर वगैरह नोंच २ कर खाजाँय और कोई पास खड़ा न हो। इतना ही नहीं जहां, से देखो वहाँ से खाली दुर्गंधमय मल झरता रहता है। फिर मूर्खता है कि ऐसे शरीर के साथ दोस्ती करे! नहीं कभी नहीं, इससे तो सदैव उपेक्षित रहना चाहिये। हां उतना ही इससे सम्बन्ध रखे जितना कि अपने काम साधने (सिद्ध करने) के लिये जरूरी है। जिस प्रकार मिशीनों वगरह को-केवल इस गरज से कि बीच में खराब हो जाने से हमारा काम बन्द न होजाय—मसाला (तेल-वगैरह) दिया जाता है। ठीक उसी तरह विचार रखते हुए भोजनादि देना इसे भी जरूरी है। ऐसा करने से सभी काम चाहे इस लोक के हों या परलोक के हों, बराबर

सिद्ध हो जाते हैं। मतलब यह कि अधिकता न करे। न इसके अर्थ पापों का संचय करे इत्यादि।

प्रश्न—आस्रवभावना किसे कहते है ? इसका उत्तर—

जो जोगन की चपलाई।
तातें होय आस्रव भाई॥
आस्रव दुःखकार घनेरे।
बुधिवंत तिन्हें निरवेरे॥९॥

शब्दार्थ--

जोगन=योग-मन वचन काय की क्रिया। चपलाई=चंचलता। आस्रव=कर्मों का आगमन। घनेरे=अधिक। बुधिवत= बुद्धि से काम करने वाले-चतुर। निरवेरे=अलग करना-त्याग देना।

अर्थ-

योगों की चंचलता होने से आस्रव होता है अर्थात् कर्म आते हैं और वह आस्रव दुःखों का देने वाला है। ऐसा विचार कर बुद्धिमान् लोक (दूरदर्शी-चतुर) उसे दूर से ही त्याग देते हैं। इस प्रकार विचार करना आस्रव भावना कहलाती है।

भावार्थ-

जब मन वचन काय अपने २ विषयों (कार्यों) की तरफ उन्मुख होते है या यों कहिये कि अपने २ विषयों को ग्रहण

करते हैं तब नियम से उनको प्रयत्न करना पड़ता है अर्थात् ग्रहण (कार्य) करने के लिये उनको ताकत लगाना पडती है और जब वे उस ताकत को लगाते हैं तब अवश्य ही (अनिवार्य रूप से) आत्मा के प्रदेशों में सकम्प (हलन-चलन) पैदा होता है। बस उस सकम्प का ही नाम योग या आस्रव है. कारण कि उसके जरिये (निमित्त से) आत्मा की एकाग्रता या स्थिरता नष्ट होती है-जो कि संवर (कर्माभाव) का कारण है। और फिर उससे अवश्य ही (नियम पूर्वक) कर्म आने लगते हैं, ऐसा समझना। इसका बृहत् स्वरूप बड़े २ ग्रन्थों से समझना, यहां पर इतना ही काफी है. पेश्तर भी थोड़ासा बताया गया है। हां वह योग द्रव्य और भाव के भेद से दो तरह का बताया गया है। प्रायः द्रव्ययोग इन्हीं (मन वचन काय की क्रिया) को कहते हैं और भावयोग आत्मा को योगशक्ति को कहते हैं ऐसा और समझ लेना।

प्रश्न—संवरभावना किसे कहते हैं? इसका उत्तर—

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना।
आतम-अनुभव चित दीना॥
तिनही विधि आवत रोके।
संवर लहि सुख अवलोके॥१०॥

शब्दार्थ-

पुण्य=शुभोपयोग-धर्मानुराग। पाप=अशुभोपयोग-विषयानु-

राग । कीना = किया । आतम अनुभव = शुद्धोपयोग । चित = उपयोग । दीना = दिया-लगाया । विधि = कर्म । आवत = आने वाले (नवीन) अवलोके = देखना ।

अर्थ–

जिन पुरुषों ने पुण्य और पाप नहीं किया अर्थात् न तो जो शुभोपयोग (धर्मानुराग के काम) करते हैं और न अशुभोपयोग (विषय कषाय के काम) करते हैं किन्तु खाली आत्मामात्र के अनुभव याने शुद्धोपयोग में अपने चित्त (उपयोग) को लगाते हैं वे ही पुरुष आते हुए कर्मों को रोककर सच्चा संवर (आस्रव निरोध) करते हैं और संवर को प्राप्तकर वास्तविक सुख का अनुभव करते (देखते) हैं। ऐसा विचार करना सँवर भावना कहलाता है।

भावार्थ–

जीव (आत्मा) की परिणति (उपयोग) तीन तरह की होती है १ अशुभोपयोगरूप २ शुभोपयोगरूप ३ शुद्धोपयोग रूप । जिनमें से पहिले के दो उपयोग तो कर्मबंध के कारण है कारण कि वे दोनों ही प्रवृत्ति रूप हैं। यह बात दूसरी है कि पहिले से मुख्यतया पापकर्म बंधते हैं और दूसरे से मुख्यतया पुण्यकर्म, परन्तु हैं दोनों बंध के कारण; इसलिये त्याज्य ही हैं। रहा तीसरा उपयोग सो दरअसल में वही संवर (बंधाभाव) का कारण है। कारण कि वही निवृत्ति रूप है, इसलिये उससे

कर्मबंध होना मिट जाता है। ऐसी दशा में सत्पुरुषों का काम है कि सदैव शुद्धोपयोग की कोशिश कर संवर को प्राप्त करें; जिससे अतीन्द्रिय अविनाशी सुख की प्राप्ति हो। इस तरह सँवर की तरफ ध्यान देना अर्थात् दत्तचित्त होना संवरभावना कहलाती है।

प्रश्न—निर्जरा भावना किसे कहते हैं? इसका उत्तर—

निज काल पाय विधि झरना।
तासों निज काज न सरना॥
तप कर जो कर्म खिपावै।
सो ही शिव सुख दरशावै॥११॥

शब्दार्थ-

निजकाल=अपनी आयु(स्थिति)। झरना=क्षय होना-खिरना। सरना=सिद्ध होना-हल होना। दरशावे=दिखाना।

अर्थ-

अपनी आयु को पूर्ण कर स्वतः जो कर्म खिपते (क्षय होते) हैं उनसे अपना कोई मतलब सिद्ध नहीं होता (वह अकाम निर्जरा है) किन्तु तपश्चरण के बल से बीच में ही जो कर्म खिपाये जाते हैं; सच्ची निर्जरा (सकाम निर्जरा) यही है और उसी से सच्चा सुख (मोक्ष सुख) देखने में आता है याने मिलता है। ऐसा विचार करना निर्जरा भावना है।

भावार्थ--

निर्जरा सकाम और अकाम (अविपाक-सविपाक) के भेद से दो तरह की होती है यह पहिले ही बतला चुके हैं। उनमें से अकाम—निर्जरा तो अपने मतलब (बंधाभाव) की है नहीं और इसीलिये उसे अकाम (बेकाम-व्यर्थ) कहते हैं। रही दूसरी सो वह अपने पूरे मतलब की है, कारण कि उससे नया बँध नहीं होता; जिससे कि मोक्ष हो जाता है। और इसीलिये उसको सकाम (मतलब की) कहते हैं। ऐसी दशा में सकाम निर्जरा की ही कोशिश करना चाहिये। फल यह होगा कि सकाम निर्जरा से पूर्वबद्ध—कर्म नष्ट हो जावेंगे और सँवर से नये कर्म नहीं आवेंगे, तब जल्दी ही मोक्ष भी हो जावेगा जो कि सब को इष्ट है। उस दशा में सारी झंझटें छूट जावेंगी और सुख शान्ति का अनुभव होने लगेगा इत्यादि। ऐसा चिंतवन करना निर्जरा भावना है। मतलब यह कि अकाम निर्जरा संसार—जनक है और सकाम निर्जरा मोक्ष—जनक है। कारण कि अकाम निर्जरा से जो कर्म नष्ट होते हैं वे तो ऐसे हैं जैसे कि 'गजस्नान' अर्थात् पूर्व बद्ध—कर्म नष्ट होते जाते हैं और उत्तर (नये) कर्म बंधते जाते हैं, जिससे स्टाक (खजाना) कभी खाली नहीं हो पाता—बराबर सत्ता में कर्म बने ही रहते हैं। और सकाम निर्जरा द्वारा जो कर्म नष्ट होते हैं वे ऐसे हैं जैसे कि 'बिना आमदनी का खर्च', अर्थात् खाली पूर्व—बद्ध-कर्म नष्ट होते जाते हैं किन्तु नया बंध नहीं हो पाता; इसलिये एक वक्त कर्मों का बिलकुल अभाव हो जाता है। याने सत्ता

में कर्म न रहने से मोक्ष हो जाता है।

प्रश्न—लोक भावना किसे कहते हैं? इसका उत्तर—

किनहू न करै न धरै को, षट्-द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोक माहिं बिन समता॥
दुःख सहै जीव नितभ्रमता॥१२॥

शब्दार्थ--

किनहू=किसी। करै=बनाना। धरै=रक्षा करना। षट् द्रव्य मयी=छह द्रव्य स्वरूप। हरै=नाश करना। समता=संतोष=शान्ति।

अर्थ--

इस छह-द्रव्यस्वरूप (जीवादि छह द्रव्यों से भरे हुए) लोक को न तो कोई बनाता है और न कोई इसकी रक्षा करता है और न कोई इसको बिगाड़ता (नष्ट करता) है; किन्तु यह स्वयँ ही (अपने आप) बनता बिगड़ता और स्थिर (रक्षित) रहता है। इसलिये एसे स्वयँ-सिद्ध लोक में बिना संतोष और शान्ति के जीव व्यर्थ ही इधर उधर घूमता और दुःख उठाता (सहता) फिरता है। ऐसा विचार करना लोक भावना है।

भावार्थ-

यह लोक जिसको कि हम सब देख रहे हैं वैसा नहीं

है जैसा कि अन्यमती (नैयायिकादि-परमती) मानते हैं। उनका कहना है कि इसलोक को ब्रह्मा (ईश्वर) बनाता है और विष्णु रक्षा करता है तथा महेश (महादेव-शंकर) प्रलय (नाश ध्वंस) करता है इत्यादि । परन्तु यह उनका मानना निराधार और असंगत है, कारण कि किसी भी प्रमाण व युक्ति से वैसा सिद्ध नहीं होता । कल्पना करो कि यदि ईश्वर जगत् का कर्त्ता है तो यह जरूरी है कि उसको खुद शरीर सहित मानना पड़ेगा क्योंकि विना शरीर के कोई स्थूल व विनश्वर चीजें बना ही नहीं सका । और शरीर मान लेने पर शंका होगी कि वह नित्य है या अनित्य, नित्य तो मान नहीं सके, कारण कि वह अवयव (अँश) सहित है । अथ च नित्य मानने से वह सदा ईश्वर के साथ ही रहेगा, जिससे उसकी निराकारता में बाधा आयगी इत्यादि । इसलिये अनित्य मानो, तव यह प्रश्न खड़ा होगा कि वह खुद ही वन गया कि उसे दूसरे ईश्वर ने वनाया ? यदि खुद ही वन गया तो लोक(जगत्) भी स्वयं क्यों न बन जाय ! यदि दूसरे ने वनाया है तो वह भी शरीर धारी होना चाहिये इत्यादि बढ़ते २ (चलते २) कहीं रुकावट (विशान्ति) ही न होगी, तव अनवस्था दूषण आवेगा आदि । इसके सिवाय जव ईश्वर शुरू २ में जगत को बनाता होगा तव कहाँ ठहरता होगा व किस चीज से बनाता होगा यह शंका भी दुर्निवार है । अगर कहा जाय कि पहिले भी कुछ था तो जगत अनादि नहीं ठहरेगा इत्यादि एक से एक जवर्दस्त शंकाएं खड़ी होती हैं, जिनसे जगत्कर्तृत्त्व ठहर नही सका । इसका विशेष आप्तपरीक्षा प्रमेय—रत्नमाला आदि में भरा पड़ा है । यहां पर खाली वालकों की वुद्धि के अनुसार थोड़ासा इशारा मात्र किया गया है। अत-

एव हर तरह से यह सिद्ध होता है कि इस जगत को कोई नहीं बनाता-स्वयं सिद्ध है । और न कोई इसकी रक्षा करता है और न कोई इसे बिगाडता (नष्ट करता) है इत्यादि । हां यह जरूर है कि जीवों के भाग्यानुसार सभी रचना अपने आप हो जाती है और अपने आप मिट जाती है व अपने आप स्थिर रहती है । अनादि से इसी तरह का उत्पाद व्यय ध्रौव्य (उत्पत्ति-विनाश नित्यता)चला आ रहा है, यह कोई नई बात नहीं है। देखो संसार में ऐसा निमित्त नैमित्तिक संबँध बन रहा है कि जो चीज जिसके भाग्य में बदी है वह उसे सहज ही मिल जाती है और जो जिसके भाग्य में नहीं है वह उससे पृथक् हो जाती है इत्यादि । इसलिये यह अच्छी तरह समाधान होता है कि सिवाय जीवों के कर्म (भाग्य) के कोई इस जगत् का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नहीं है । बस इस प्रकार विचार होने से ही समता (शान्ति) हो सकती है और तभी निराकुलताजन्य सच्चा—सुख मिल सकता है व उसका स्वाद आ सकता है । ऐसा दृढ विश्वास (धारणा) कर सदैव इसका प्रयत्न करना चाहिये । इतना और समझना कि यहां जो कर्तृत्व का खंडन किया गया है वह इस तरीके पर किया गया है कि 'सर्वथा एक स्वतंत्र कर्त्ता पुरुषविशेष (ईश्वर) इस लोक (जगत) का कर्त्ता नहीं है, इत्यादि । किन्तु निमित्त रूप से कर्त्ता हर कोई हर काम का हो सकता है । जैसे घड़ा के बनने में दिशा आकाश काल वगैरह । परन्तु यह नियम नहीं है कि यदि उपादान (खास) कर्त्ता हो और निमित्त कर्त्ता न हो तो कार्य न हो सके । नहीं कार्य बराबर होगा । निमित्त कर्त्ता कभी भी कार्यका प्रतिबंधक नहीं हो सका । इसलिये अगर निमित्त रूपसे ईश्वरको कर्त्ता माननेकी इच्छा है तो हमें कोई आपत्ति

नहीं, लेकिन इसमें कोई विशेष लाभ नहीं दिखता। इसलिये ऐसी मामूली कल्पना क्यों करना ? बल्कि किसी असाधारण चीज के महत्त्व को घटाना है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि ईश्वर कोई एक खास व्यक्ति नहीं है, किन्तु अनेक हैं और हर कोई प्रयत्न करने पर ईश्वर हो सक्ता है इतिशम्—

प्रश्न—बोधिदुर्लभ भावना किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

अँतिम ग्रीवक लों की हद।
पायो अनंत विरियाँ पद॥
पर सम्यग्ज्ञान न लाधो।
दुर्लभ निज में मुनिसाधो॥१३॥

भावार्थ—

अंतिम=अखीर। ग्रीवक=सोलवें स्वर्ग के ऊपर। अनंत-विरियाँ=अनंतवार। पद=स्थान। लाधो=लिया-पाया, पाना।

अर्थ—

मिथ्यादृष्टि जीव अनंतेवार नव-ग्रैवेयिक पर्यन्त चले जाते हैं और वहां पर अहमिन्द्र पद पालेते हैं, किन्तु सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं कर सक्ते, कारण कि वह बड़ा कठिन (दुर्लभ) है। हाँ उसको प्राप्त करने वाले प्रायः मुनि लोग होते है या यों कहिये कि उस सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति मुनियों के होती है। ऐसा विचार करना बोधि-दुर्लभ भावना है।

भावार्थ-

यह बोध (सम्यग्ज्ञान) जो कि अत्यन्त दुर्लभ है, मुनियों को प्राप्त होता है ऐसा लिखा है। तब शंका होती है कि ऐसा क्यों? सबब कि वह तो साधारण अविरत—सम्यग्दृष्टि (चतुर्थगुण—स्थानी) के भी हो जाता है? इसका उत्तर यह हो सक्ता है कि १ एक तो अंगली ढाल (छटवीं) में मुनि—धर्म का वर्णन होने वाला है, इसलिये उसकी मुख्यता दिखाने को ऐसा (पूर्वोक्त) लिखा गया है। अथवा कार्य कारणभाव दिखाने की गरज से ऐसा लिखा गया है। जिसका खुलासा यह है कि वह दुर्लभबोध मुनिपने का कारण है इसलिये उसको आत्मा में धारण करना चाहिये कारण कि प्रत्येक भावना व सब भावनाएँ मुनिपने का कारण (जनक) हैं। ऐसा शुरू में ही बता दिया गया है। तब इस सम्यग्ज्ञान को मुनियों के प्रति होना बताने में क्या हानि व आश्चर्य है? कुछ भी नहीं। २ दूसरे मुनि—शब्द, मन धातु-से बना है जिसका अर्थ मनन या विचार होता है। इसलिये उसका आशय यों निकलता है, कि वह सम्यग्ज्ञान विचार वालों-तत्त्वजिज्ञासुओं को ही होता है इत्यादि। ऐसा होने से कोई शंका नहीं रहती प्रत्युत इष्ट अर्थ वही निकल आता है, जिसमें कि कोई सन्देह व शंका न रहे। अर्थात् तत्त्व-जिज्ञासा वाले (विचारवान्) चतुर्थ—गुणस्थान—वाले अविरती आदि हो सक्ते हैं। इसलिये उन्हीं को वह सम्य-ग्ज्ञान प्राप्त होता है न कि खास मुनियों (छटवें गुणस्थानी) को इत्यादि। अथवा मुनि शब्द को साक्षीपरक रखने से

यह अर्थ निकलता है कि 'उस महादुर्लभ सम्यग्ज्ञान को अपनी आत्मा में धारण करना चाहिये, ऐसा मुनियों (श्रेष्ठ पुरुषों) का कहना है। ऐसा करने से भी कोई शंका नहीं रहती ऐसा समझ लेना।

इसके सिवाय एक बात यह भी ध्वनित होती है कि विना सम्यग्ज्ञान के वह खाली मुनिव्रत (द्रव्यलिंग) भी जीव को केवल नवग्रैवेयिक पर्यन्त ही पहुँचा सका है जो कि सम्यग्ज्ञान सहित होने पर जीवको मोक्ष तक पहुंचाने में समर्थ है। इसलिये जो कुछ महत्त्व शाली है वह केवल सम्यग्ज्ञान ही। विना सम्यज्ञान के सब वृथा है और वह बड़ा दुर्लभ है। इसलिये जिस तरह बने उसको प्राप्त करने की कोशिश करना चाहिये। इसी की पुष्टि आंगे की जाती है।

प्रश्न—धर्म भावना किसे कहते हैं? इसका उत्तर—

जे भाव मोह तें न्यारे।
दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे॥
सो धर्म, जबै जिय धारै।
तबही सुख अचल निहारै॥१४॥

शब्दार्थ-

भावमोह = मिथ्यादर्शन-अतत्त्व श्रद्धान। न्यारे = पृथक् रहित। अचल = स्थिर-अविनश्वर (मोक्ष)। निहारे = देखना प्राप्त होना।

अर्थ-

मिथ्यादर्शन से रहित दर्शन-ज्ञान-चारित्र, (रत्नत्र-

य) ही सच्चा धर्म है। इसलिये जब जीव उस सच्चे धर्म (सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, रूप-रत्न त्रय) को धारण करता है तब ही स्थिर सुख (मोक्ष) को देखता है याने प्राप्त होता है।

भावार्थ-

धर्म रत्नत्रय को ही कहते हैं। इसलिये जब तक वह प्राप्त न हो तब तक जितने भी धर्म हैं वे सब अधर्म और मिथ्या हैं तथा उनका फल ज्यादह से ज्यादह नवग्रैवेयिक तक पहुँचना है। और रत्नत्रयरूप धर्म का फल मोक्ष महल तक प्राप्त करना है। इसलिये जैनधर्म (रत्नत्रय) व अन्य धर्म में जमीन आसमान का अन्तर है। इस लिहाज से जैन-धर्म ही सर्वोत्कृष्ट है ऐसा समझना।

अवशिष्ट-

प्रश्न-तब वह धर्म कौन धारण कर सक्ता है? इसका उत्तर-

सो धर्म मुनिन कर धरिये।
तिनकी करतूत उचरिये॥
ताकूं सुनिये भवि प्राणी!
अपनी अनुभूति पिछानी॥१५॥

शब्दार्थ-

करतून = कर्त्तव्य-कृति । उचरिये = कहिये । भविप्राणी = भव्य जीव । अनुभूति = अनुभव । पिछानो = पहिचानना ।

अर्थ-

उस रत्नत्रयरूप धर्मको मुनि महात्मा धारण करते हैं-दूसरे नहीं । इसलिये अब (आगे) उन महात्माओं का ही कर्त्तव्य कहा जाता है सो भव्य जीवों का कर्त्तव्य है कि उसको वे सुनें और अपने अनुभव (कर्त्तव्य) में लाएँ । या यों कहिये कि उसको सुनकर अपने कर्त्तव्य को पहिचानें कि संसार में हमारा क्या कर्त्तव्य है-हमारी आत्मा का अनुभव हमें कैसे होगा इत्यादि ।

भावार्थ-

समग्र रत्नत्रयरूप धर्म को धारण करने वाले वास्तव में संयमी मुनि ही होते हैं । कारण कि रत्नत्रय की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान तक ही होती है जहाँ पर कि केवलज्ञान प्रकट् होता है । इस लिये यह ठीक है कि, वह मुनियों का ही धर्म है. छटवें गुण-स्थान से लेकर आगे के सभी गुणस्थान संयमी-मुनियों के ही हैं। ऐसी हालतमें भव्य पुरुषों का कर्त्तव्य है कि आत्मानुभव(पहिचान) करने के लिये उस धर्म को सुनें मनन करें और अनुभवमें लाएं याने धारण करें । तभी संभव है कि संसार से बेड़ापार हो सके इति ।

अथ छटवीं ढाल प्रारंभः

हरिगीता छन्द २८ मात्रा

(साधु के २८ गुण)

नोट—इस ढाल में मुनियों का धर्म सकल—चारित्र (पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पांच-इन्द्रिय दमन, पट् आवश्यक, सात अवशेष=२८ मूल गुण) जो कि पाँचवी ढाल के अखीर में 'सो धर्म मुनिन कर धरिये, तिनकी करतूति उचरिये, इस पद द्वारा वर्णन करने के लिये कहा गया है-कहा जायगा । साथ ही साथ शुद्ध-निश्चय-नय की अपेक्षा स्वरूपाचरण चारित्र का भी निरूपण किया जायगा और यह भी कहा जायगा कि आत्मा कर्त्ता आदि पट् कारकविकल्पों से रहित एक शुद्ध-बुद्ध—स्वभाव है इत्यादि । जिसमें सबसे पहिले पाँच महाव्रतों का वर्णन करते हैं यथा-

प्रश्न-अहिंसा महाव्रत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

पट्काय जीव न हननतें, सब विधि दरब हिंसाटरी।
रागादि भाव निवारतें, हिंसा न भावित अवतरी ॥

शब्दार्थ-

पट्काय=पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर काय और एक त्रस काय ऐसे छह, शरीर-भेद । हननतें=मारने से-घात से । सब विधि=सब प्रकार । दरबहिंसा=द्रव्यहिंसा । टरी=टरना-बचना ।

रागादिभाव=रागद्वेष वगैरह अशुद्ध परिणति । निवारतें=नष्ट होने से-अभाव होने से । भावित=भावहिंसा । अवतरी=उत्पन्न होना-प्रकट् होना ।

अर्थ-

पृथ्वीकाय आदि छहकाय के जीवों का विघात (मरण) न होने से सब तरह की द्रव्यहिंसा नहीं होती और रागद्वेष आदि विकल्परूप अशुद्धपरणति (प्रमत्त अवस्था) के अभाव होने से किसी किस्मकी भावहिंसा नहीं होती, बस इन्हीं दोनों किस्म की हिंसाओं का पूर्ण रूप (सर्वथा-सर्वदेश) से अभाव होने को-अहिंसा महाव्रत कहते हैं ।

प्रश्न-सत्य—महाव्रत व अचौर्य—महाव्रत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

जिनके न लेश मृषा—न जल मृण हू विना दीयो गहैं ।

शब्दार्थ--

लेश=रंचमात्र-थोड़ा भी । मृषा=झूठ-असत्य ।मृण=मिट्टी । विनादीयो=विना इजाजत या विना समर्पित ।

अर्थ--

विलकुल ही (सर्वथा) झूठ न बोलने को सत्यमहाव्रत कहते हैं । और आज्ञा विना अथवा समर्पण किये

बिना जल व मिट्टी को भी नहीं ग्रहण करना—अचौर्य महाव्रत कहलाता है।

भावार्थ—

अणुव्रत में बिना इजाजत जल व मिट्टी की खुलासी रहती है और महाव्रत में खुलासी नहीं रहती, यह दोनों में खास भेद पाया जाता है। कारण कि बाकी क्रियाओं में से कोई २ एकसी मिलती जुलती भी हैं। इसलिये उनकी अपेक्षा भेद करना एक तरह से कठिन है। लेकिन यहाँ पर महाव्रतों के प्रकरण में भी अणुव्रतों की तरह अभिप्राय (संकल्प) का सम्बन्ध विवक्षित समझना। कारण कि धर्मोपदेश आदि के समय प्रसंगवश कभी २ अधिक व पुनरुक्त तथा स्खलन हो जाना भी संभव है, लेकिन उससे सत्य महाव्रत में बाधा नहीं आती और न परस्पर मुनियों-त्यागियों में कदाचित् एक दूसरे के शुचि-ज्ञान-संयम के उपकरण (जल-शास्त्र पीछी-कमंडलु) उपयोग (बर्ताव) में आजाने पर भी अचौर्य—महाव्रत भंग होता है, कारण कि इरादतन वैसा नहीं किया जाता ऐसा समझ लेना। इसके सिवाय उन उपकरणों का स्वामित्व (ममकारपना), गृहस्थों पर रहता है न कि मुनियों-त्यागियों पर, और ऐसा होने से वे सर्वथा उक्त दोष से बरी रहते हैं। हाँ जिनके उनमें भी ममत्व—बुद्धि हो जाती है वे अवश्य ही उसके सबब से पुलाकादि भेद के पात्र हो जाते हैं। अतएव तात्पर्य यह समझना कि वे खास उपकरणादि गृहस्थों द्वारा वसतिका वगैरह की तरह साधारणतया सब के (न कि खास मुनियों के) निर्वाह के वास्ते योजित कर दिये जाते हैं। और

इसीसे उनकी रक्षा व मरम्मत वगैरह का भार गृहस्थों पर ही रहता है, त्यागियों का उनसे सिवाय धर्मसाधन के कोई ताल्लुक नहीं रहता इति।

प्रश्न-ब्रह्मचर्य महाव्रत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

अठदश सहस विधि शील धर-
चिद् ब्रह्म में नित रम रहे ॥१॥

शब्दार्थ--

अठदश = अठारह । सहस = हजार । शील = ब्रह्मचर्य । चिद्-ब्रह्म = चैतन्य—आत्मा । रमरहे = क्रीड़ा करना-तल्लीन होना.

अर्थ--

अठारह हजार शील के भेदों को धारण कर आत्म ध्यान में तल्लीन होने को याने समस्त स्त्री मात्रका त्याग कर निरन्तर आत्मामात्र में क्रीड़ा करने को ब्रह्मचर्य महाव्रत कहते हैं।

भावार्थ--

ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ है आत्मविचरण अर्थात् सम्पूर्ण कुशील के भेदों को त्यागकर शील (आत्म स्वभाव) की उपासना करने को ब्रह्मचर्य महाव्रत कहते है। शील के अठारह हजार भेद बतलाए गये है यथा--१० दश प्रकार मैथुन कर्म(१ विषयाभिलाषा २ वस्ति (वीर्य) विमोक्ष ३ प्रणीतरस सेवन ४ संसक्त द्रव्यसेवन ५ शरीरांगोपांग अवलोकन ६ प्रेमी सत्कार पुरस्कार ७ शरीर

संस्कार ८ अतीत भोग स्मरण ९ अनागत भोगाकाँक्षा १० इष्ट विषय सेवन) व उसकी दश १० अवस्थाएं (१ चिन्ता २ दर्शनेच्छा ३ दीर्घनिश्वास ४ ज्वर ५ दाह ६ अशनअरुचि ७ मूर्छा ८ उन्माद ९ जीवनसन्देह १० मरण) इस प्रकार दोनों का परस्पर गुणा करने से १०×१०=१०० भेद होते हैं । तथा यह (मैथुन) पाँच इन्द्रियों से होता है, इसलिये सौ को पाँच से गुणा करने पर १००+५=५०० भेद होते हैं । और फिर उन्हीं को तीन योगों से गुणा करने पर ५००×३=१५०० भेद होते हैं । इसी तरह कृत—कारित—अनुमोदना इन तीन से गुणा करने पर १५००+३=४५०० भेद होते हैं । और जागृत—स्वप्न इन दो अवस्थाओं में होने के कारण इन दो से गुणा करने पर ४५००+२=९००० भेद होते हैं । तथा यह सब चेतन—अचेतन दो तरह की स्त्रियों से होने के कारण इन दो से गुणा करने पर ९०००×२=१८००० कुल भेद हो जाते हैं ऐसा समझना । बस इन सबको धारण करने से ही पूर्ण ब्रह्मचर्य पल सक्ता है जिसका कि नाम महाव्रत है। जिन महात्माओं को यह प्राप्त हो जाता है उनका संसार नष्ट हुए विना नहीं रह सक्ता बल्कि जब तक वे संसार में हैं तब तक उनको जीवन्मुक्त कहते हैं । इसलिये इनकी कोशिश करना बहुत आवश्यक है ।

प्रश्न—परिग्रहत्याग महाव्रत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर-

अन्तर चतुर्दश भेद बाहिर-

संग दशधा तें टलै ॥

शब्दार्थ-

अन्तर=अंतरंग। चतुर्दश= चौदह। बाहिर=बाह्य। संग=परिग्रह। दशधा=दश प्रकार। टलै=दूर रहना-पृथक होना-त्यागना।

अर्थ-

चौदह प्रकार अंतरंग और दश प्रकार बहिरंग कुल २४ चौवीस प्रकार के परिग्रह का सर्वथा त्याग करना-परिग्रह त्याग महाव्रत कहलाता है।

भावार्थ-

यों तो मूल में परिग्रह चेतन—अचेतन के भेद से दो व उभय के भेद से तीन तरह का होता है, परन्तु भेद विवक्षा से उसी के २४ भेद कर दिये गये हैं। जिनमें अन्तरंग व बहिरंग दो बड़े २ हिस्सा कर दिये हैं। १ मिथ्यात्व २ वेद ३ राग ४ द्वेष ५ हास्य ६ रति ७ अरति ८ शोक ९ भय १० जुगुप्सा ११ क्रोध १२ मान १३ माया १४ लोभ ये अन्तरंग परिग्रह हैं। और १ क्षेत्र २ वास्तु ३ हिरण्य ४ सुवर्ण ५ धन ६ धान्य ७ दासी ८ दास ९ कुप्य १० भाँड ये १० बहिरंग परिग्रह हैं। इन २४ का सर्वथा त्याग करना महाव्रत कहलाता है।

यहाँ तक पांच महाव्रत कहे। आगे ५ पाँच समितियों का कथन करते हैं यथा—

प्रश्न—ईर्या—समिति किसे कहते हैं? इसका उत्तर—

परमाद तज चऊकर महीलख
समिति ईर्य्या तैं चलै ॥

शब्दार्थ--

परमाद=आलस्य-असावधानी । चऊ=चार । कर=हाथ । मही=पृथ्वी । समिति=सम्यक् परिणमन । ईर्या=गमन ।

अर्थ-

आलस्य (असावधानी) छोड़कर आंगे चार हाथ (जूड़ा प्रमाण) जमीन को देखते हुए अच्छी तरह (सावधानी से) गमन करने को ईर्या-समिति कहते हैं।

भावार्थ--

मुनि महात्माओं का बुद्धि—पूर्वक तो कर्त्तव्य यही है। फिर कदाचित् कोई जीव कर्मों का पेरा हुवा उपर्युक्त सावधानी (यत्नाचार) रखने पर भी पग—तले आजाय तो उसमें दोष महात्माओं का नहीं है किन्तु उसी जीव के दुष्कर्म का वह अपराध है, जिससे वह उनका निमित्त मात्र पाकर प्राण विसर्जन कर देता है। हाँ यदि वताए हुए कर्त्तव्य के विरुद्ध उनकी प्रवृत्ति हो तो अवश्य ही वे अपराधी हैं और जैनधर्म के प्रतिकूल चलने से वे दीर्घ—संसारी हैं। कम से कम त्यागियों के लिये किसी काम में उतावली करना सर्वथा मना है, वह उन्हें कदापि शोभा नहीं देता। ऐसा जान कभी भी जल्दी बाजी नहीं करना चाहिये ।

प्रश्न—भाषा समिति किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

जग सुहित कर सब अहित हर,
श्रुति सुखद सब संशय हरै ।
भ्रम रोग हर जिनके वचन,
मुख चन्द्र तें अमृत झरै ॥२॥

शब्दार्थ—

सुहित = कल्याण-सुख । अहित = बुराई-अकल्याण दुःख । हर = दूर करने वाले । श्रुति = कान । सुखद = सुखदायक-प्रिय । संशय = शंका-शल्य । भ्रम = भ्रान्ति-विपर्यय । मुखचन्द्र = मुख रूपी चन्द्रमा ।

अर्थ—

जिनसे साँसारिक जीवों को सुख-शान्ति मिले और दुःख-अशान्ति दूर हो तथा जो कानों को सुहावने (प्रिय) मालूम पड़ें व संशय-विपर्यय रोग (मिथ्याज्ञान) को समूल नष्ट करें ऐसे मुखरूपी चन्द्रमा से अमृत समान वचनों का निकलना-भाषा समिति कहलाती है ।

भावार्थ—

यों तो भाषा समिति में हित मित व प्रिय वचन बोला जाता है, लेकिन यदि कारण पाकर वाद-विवाद का या तत्व-प्रबोधन (-प्रदर्शन) का मौका आजाय तो यह नियम स्खलित भी हो जाता है; फिर भी व्रत (समिति) भंग नहीं होता

कारण कि वैसा करते समय उनका दुरभिप्राय या स्वार्थ नहीं है न कोई व्रतभंग करने का इरादा ही है। इसलिये उसका प्रतिक्रमण आदि जरूर करना पड़ेगा परन्तु यह नहीं कि उसका प्रत्यवस्थापन (छेदोपस्थापन) करना पड़े। ऐसा होने से कोई बाधा नहीं आती। मतलब यह कि व्रतादिक में सर्वत्र अभिप्राय अपेक्षणीय है बिना अभिप्राय या संकल्प के क्रिया—मात्र सर्वथा घातक नहीं हो सकी। हां क्रिया से खाली दोष (अतिचार) जरूर लगता है पर अनाचार नहीं हो जाता, क्योंकि उसमें आसक्ति और बारंबार प्रवृत्ति नहीं है-ऐसा समझना।

प्रश्न—एषणा समिति किसे कहते हैं? इसका उत्तर-

छियालीस दोष बिना सुकुल,
श्रावक तणे घर अशन को।
ले तप बढ़ावन हेतु, नहिं तन-
पोषने, तज रसन को॥

शब्दार्थ--

सुकुल=उत्तम कुलवान्-उच्चकुली। तणे=के (सम्बन्ध-वाचक) अशन=भोजन। हेतु=गरज-अभिप्राय। रसन=बहरव।

अर्थ--

सहधर्मी व उच्चकुली श्रावक के घर छियालीस दोषों (व बत्तीस अन्तरायों) कर रहित शुद्ध-निर्दोष

व नीरस-आहार लेने को—एषणा समिति कहते हैं; परन्तु तपश्चरण बढ़ाने की गरज से वह भोजन होना चाहिये न कि शरीर पुष्ट करने की गरज से। अन्यथा दोषाधायक जरूर होगा।

भावार्थ--

साधु महात्मा भोजन सिर्फ इस गरज से करते हैं कि शरीर स्थिर रहकर उससे धर्मसाधन—तपश्चरण आदि उत्तम २ काम कर सकें। तथा क्षुधा प्रतीकार, वैयावृत्यकरण, आवश्यक परिपालन, प्राणरक्षण, धर्मचिन्तन, संयमस्थितिकरण—इन छह मुख्य उद्देश्यों से भी भोजन लेना बताया है। लेकिन उस भोजन में निम्न लिखित दोष कतई न होना चाहिये यथा—१६ उद्गम दोष-जो कि दाता के आश्रित हैं (१ उद्दिष्ट २ अध्यधि ३ पूति ४ मिश्र ५ स्थापित ६ बलि ७ प्राभृत ८ प्राद्रुष्कर ९ क्रीत १० ऋण ११ परावर्त्त १२ अभिघट १३ उद्भिन्न १४ मालारोहण १५ आच्छेद्य १६ अनिसृष्ट) १६ उत्पादन दोष- जो कि पात्र (मुनि आदि) के आश्रित हैं (१ धात्री २ दूत ३ निमित्त ४ आजीव ५ वनीपक ६ चिकित्सा ७ क्रोध ८ मान ९ माया १० लोभ ११ पूर्वस्तुति १२ पश्चात् स्तुति १३ विद्योत्पादन १४ मंत्रोत्पादन १५ चूर्णोत्पादन १६ मूल कर्म) १० एषणादोष (१ शंकित २ म्रक्षित ३ निक्षिप्त ४ पिहित ५ व्यवहरण ६ दायक ७ उन्मिश्र ८ अपरिणत ९ लिप्त १० परित्यजन) चार शेष दोष—(१ संयोजना २ अप्रमाण ३ अंगार ४ अधःकर्म) ऐसे क्रम से १६, १६; १०, ४=४६ कुल दोष होते हैं। इनका टालना श्रावक व मुनि दोनों को उचित

है। बिना इनके टाले कभी निर्दोष आहार हो ही नहीं सक्ता. तब एषणा समिति क्या पलेगी ? और ऐसा भोजन जिसमें एषणा समिति का विघात हो मुनि कभी कर नहीं सक्ते। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि सदोष भोजन होने से मुनि उसको त्याग देते हैं। और वक्ष्यमाण ६ छह कारणों के निमित्त से भी भोजन त्याग देते हैं जैसे—१ रोग (व्याधि) नाशनार्थ २ उपसर्ग निवारणार्थ ३ ब्रह्मचर्यरक्षणार्थ ४ जीवदया पालनार्थ ५ तपश्चरण साधनार्थ ६ सन्यास साधनार्थ आदि। इसी तरह ३२ अन्तराय भी शक्त्यनुसार टालना पड़ते हैं जैसे—१ काक २ अमेध्य ३ छर्दि ४ रोधन ५ रुधिर ६ अश्रुपात ७ जान्वधपरामर्श ८ जानूपरिव्यतिक्रम ९ नाभ्यधोनिर्गमन १० प्रत्याख्यात सेवन ११ जीववध १२ पिंडहरण १३ पिंडपतन १४ पाणिजन्तुवध १५ मांसदर्शन १६ उपसर्ग १७ पंचेन्द्रियगमन १८ भोजनसंपात १९ उच्चार २० प्रस्रवण २१ अभोज्य गेह प्रवेश २२ पतन २३ उपवेशन २४ दृष्ट २५ भूमिस्पर्श २६ निष्ठीवन २७ कृमिनिर्गमन २८ अदत्तग्रहण २९ शस्त्रप्रहार ३० ग्रामदाह ३१ पादग्रहण ३२ हस्तग्रहण इति।

प्रश्न—आदान निक्षेपण समिति किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

शुचि ज्ञान संयम उपकरण,
लखिकैं गहै लखिकै धरै।

शब्दार्थ

शुचि = पवित्रता। ज्ञान = बोध। संयम = चारित्र। उपकरण = साधन-सहायक। गहै = उठाना। धरै = रखना।

अर्थ

पवित्रता-ज्ञान-संयम इन तीनों के साधनों (कमंडलु शास्त्र-पीछी आदि) को अच्छी तरह देख-भालकर उठाना और रखना आदान-निक्षेपण समिति कहलाती है।

भावार्थ

जिन पदार्थों से पवित्रता-ज्ञान-सँयम इन तीनों की रक्षा एवँ वृद्धि हो वे सभी यहां पर ग्रहण करना। इसलिये केवल पीछी कमंडलु वगैरह ही नहीं समझना। हाँ इनकी मुख्यता अवश्य है। और इन सब का मतलब अहिंसातत्त्व को पूर्णता से पालने का है--जिसमें कि सभी व्रत वगैरह गर्भित (शामिल) हैं। अतएव उनके उठाने धरने में सावधानी रखना बहुत जरूरी है।

प्रश्न—प्रतिष्ठापनसमिति किसे कहते हैं ? इसका उत्तर—

निर्जन्तु थान विलोक तन-
मल मूत्र श्लेषम परिहरै ॥३॥

शब्दार्थ--

निर्जन्तु=जीवरहित-स्वच्छ । थान=स्थान-जगह। विलोक=देखकर । मल=टट्टी । मूत्र=पेशाव। श्लेषम=खखार वगैरह। परिहरै=त्यागना ।

अर्थ--

जीव रहित-स्वच्छ जगह को देखकर शरीर सम्ब-

छींक-टट्टी-पेशाब-खखार वगैरह मलोंको त्यागना (छोड़ना) प्रतिष्ठापन समिति कहलाती है।

भावार्थ-

इसमें भी मुख्यतः जीव—हिंसा के बचाने का प्रयोजन है। इसलिये मलों के त्याग करने में भी बड़ी सावधानी बताई गई है। अगर कदाचित् मलों के त्याग करने को पूरी योग्यता न मिले तो मल—परीषह का सहन करना बहुत जरूरी है। अन्यथा नियम से व्रत में बाधा पहुचने पर प्रायश्चित्त वगैरह करना पड़ेगा ऐसा समझना। आगे तीन गुप्तियों को बताते हैं यथा—

प्रश्न—तीन गुप्तियाँ किन्हें कहते हैं व उनके समय क्या दशा होती है? इसका उत्तर—

सम्यक् प्रकार निरोध मन, वच काय आतमध्यावते।
तिन सुथिर मुद्रा देख, मृगगण उपल खाज खुजावते॥

शब्दार्थ-

सम्यक्प्रकार = अच्छी तरह। निरोध = रोककर। आतम-ध्यावते = आत्मध्यानकरना। सुथिर = स्थिर-निश्चल। मुद्रा = मूर्ति गण = समुदाय। उपल = पत्थर। खाज = खुजाहट। खुजावते = घिसते।

अर्थ-

अच्छी तरह से मन—वचन—काय को रोककर (स्थिर कर) आत्मध्यान करना, तीनों गुप्तियां (मनोगुप्ति वच-

नगुप्ति कायगुप्ति) कहलाती हैं। उस वक्त उन गुप्तिधारियों की अडोल (निश्चल) मूर्ति को देखकर मृग वगैरह पशु उसे पत्थर जान अपनी खुजाहट शान्त करते (घिसते) रहते हैं। अर्थात् उनके शरीर से वे अपने शरीर को रगड़ते रहते हैं। फिर भी वे ध्यान से च्युत नहीं होते यह गुप्तियों का माहात्म्य है।

भावार्थ--

मन वचन काय की क्रिया (परिस्पन्द-चंचलता) को बिलकुल रोकना गुप्ति कहलाती है। उसके मन वगैरह के भेद से तीन भेद हो जाते हैं। अर्थात् मनकी क्रिया को रोकना मनोगुप्ति है। वचन की क्रिया को रोकना-वचनगुप्ति है और कायकी क्रिया का रोकना-कायगुप्ति है। यह सब ध्यानारूढ़ होने का तरीका है। इसलिये ध्यान के वास्ते गुप्तियों का पालना जरूरी है।

प्रश्न—पंचेन्द्रियविजय किसे कहते हैं? इसका उत्तर—

रस रूप गंध तथा फरस अरु शब्द सुह असुहावने।
तिनमें न राग विरोध, पंचेन्द्रिय जयन पद पावने॥४

शब्दार्थ-

फरस=स्पर्श। सुह=शुभ-सुखकर मीठे। असुह=अशुभ=दुःखकर कडुवे। राग=प्रीति-मोह। विरोध=अप्रीति-द्वेष। जयन=जीतना। पद=स्थान-मोक्ष। पावने=पाना।

अर्थ--

रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द, इन पंचेन्द्रियों के विषयों में-चाहे वे अच्छे (इष्ट) हों या बुरे (अनिष्ट) उनसे रागद्वेष नहीं करना याने इष्ट विषयों में राग नहीं करना और अनिष्ट विषयों में द्वेष नहीं करना-पंचेन्द्रिय विजय कहलाता है। जिसके होने से मोक्ष स्थान प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ--

पंचेन्द्रिय व उनके विषय ही संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं। अतएव जब उनका अभाव (विजय) हो जाता है तब मोक्ष होने में देरी नहीं लगती। ऐसा जान सदैव उनके जीतने की कोशिश करना चाहिये। आगे छह आवश्यक बतलाते हैं यथा-

प्रश्न—छह आवश्यक (नित्य कर्म) कौन हैं? इसका उत्तर-

समता सम्हारै थुति उचारै, वन्दना जिनदेव को।
नित करै श्रु तिरति करै प्रतिक्रम, तजै तन अहमेव को

शब्दार्थ-

समता=मैत्री-समबुद्धि-रागद्वेष का अभाव। सम्हारै=करना। थुति=स्तुति—गुणानुवाद। उचारै=कहना। वन्दना=नमस्कार। श्रुति=शास्त्र। रति=प्रीति। प्रतिक्रम=लगे हुए दोषों का पश्चात्ताप करना। तजै=छोड़ना। अहमेव=अहंकार-ममत्वपना।

अर्थ

१ समस्त जीवों में समताभाव (मैत्री) धारण करना २ जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति उच्चारण करना, तथा ३ जिनेन्द्र भगवान् की बन्दना (विनय) करना ४ शास्त्रों में रुचि रखना (स्वाध्याय करना) ५ लगे हुए दोषों का पश्चात्ताप (प्रतिक्रमण) करना ६ शरीर से ममत्व छोड़ना (कायोत्सर्ग करना) ये छह आवश्यक हैं, मुनियों के लिये इनका करना नितान्त आवश्यक है। आगे बाकी बचे हुए (शेषके) सात गुण बतलाते हैं यथा—

प्रश्न—बचे हुए—शेषके सात गुण कौन हैं ? इसका उत्तर—

जिनके न न्हौन न दँतधावन, लेश अम्बर आवरण ।
भूमाहिं पिछली रयन में, कछु शयन एकासन करण ॥५॥
इकवार दिनमें ले अहार, खड़े अलप निज पान में ।
कचलौंच करत न डरत परिषह, सो लगे निजध्यानमें ॥

शब्दार्थ

न्हौन = स्नान। दंतधावन = दतौन। अम्बर = वस्त्र। आवरण = ढंकना। रयन = रात्रि। शयन = सोना। एकासन = एक करवट। पान = हाथ। कचलौंच = केशलुंच—केशों का उखाड़ना।

अर्थ—

१ यावज्जीव स्नान का त्याग २ दतौन का त्याग

३ कपड़े (वस्त्र) से शरीर-ढँकने का त्याग ४ रात्रि के पिछले पहर में भूमि पर एक करवट सोना ५ दिन में एकबार अपनी हथेली में विधि पूर्वक थोड़ासा (ऊनोदर) आहार लेना ६ केशलुंच करना ७ परीषहों को जीतकर आत्मध्यान धरना। ये सात बाकी के बचे हुए गुण हैं। इस प्रकार कुल २८ मूलगुण साधु महात्माओं (मुनि) के पाये जाते हैं।

भावार्थ-

पांच ५ महाव्रत ५ समिति ५ इन्द्रियों का विजय (दमन) ६ आवश्यक और ७ शेष, कुल २८ मूलगुण होते हैं। जो अनिवार्य रूप से हरएक साधु—मुनि के होना ही चाहिये। इनमें तो इरादतन किसी तरह की कमी या त्रुटि हो नहीं सक्ती, अन्यथा मूलमें ही बाधा होने से वे साधु-मुनि नहीं कहला सक्ते। रही उत्तर—गुणों की बात सो उनमें बहुधा कम-ज्यादह होता रहता है या हो सक्ता है, लेकिन उससे मूलव्रत में बाधा नहीं आती। हाँ व्रतमें दोष अवश्य कहलायगा पर मूल भंग न होगा ऐसा समझना। यहाँ इतना विशेष और है कि, कदाचित् किसी व्याधि व उपसर्ग वगैरह के समय या कारणविशेषवश (अनवधानता से) याद न रहने पर या परिज्ञान न होने से (अन्यमनस्क होने के सबब) यदि किसी व्रत में या क्रियाकाँड में समयातिक्रम (उल्लंघन) या सूक्ष्मत्रुटि आदि दोष उपस्थित होजाय तो होसक्ता है और उतना दोषाधायक नहीं है जितना कि जानबूझ कर समय

वगैरह की त्रुटि या उल्लंघन करने पर दोषाधायक है। कारण कि व्रत में मुख्यतया अभिप्राय पर ही सारी बातें निर्भर हैं और उसीसे भेद हो सक्ता है क्रियाकांड से कुछ नहीं। क्रिया तो प्रायः ऊपरी ढंग से सबकी एकसी मिलती जुलती ही रहती है। अतएव सब कामों में अभिप्राय मुख्य है और उसी को सम्हालने की खास जरूरत है। क्यों कि शरीरा--श्रित क्रियाओं और क्षयोपशम (इन्द्रियाधीन) ज्ञान में ऐसा होना संभव है, कोई आश्चर्य कारक बात नहीं है। हाँ यदि वही त्रुटि रुचने लगे याने उसमें आसक्ति होजाय और पश्चात्ताप वगैरह न कियाजाय तो अवश्य ही समझ लेना चाहिये कि अब वह व्रत नही है किन्तु उसमें अनाचार है। ऐसा होने से कारणविशेष उपस्थित होने पर (नैमित्तिक) शुचि-ज्ञान-संयम के साधनार्थ या रक्षणार्थ विनाचाह के लाचारी-वश (मजबूरन) किसी साधनान्तर का उपयोग होजाना या होने लगना भी करणानुयोग के अनुसार आपत्तिजनक (विरुद्ध) नहीं है, हाँ चरणानुयोग के अनुसार अवश्य ही आश्चर्य जनक (विरुद्ध) है ऐसा समझना।

अवशिष्ट–

अरिमित्र महल मसान कंचन, काँच निन्दन थुति करन।
अर्घावतारन असिप्रहारन, में सदा समता धरन ॥६॥
तप तपैं द्वादश धरैं वृषदश, रत्नत्रय सेवैं सदा।
मुनिसाथ में व एक विचरैं, चहैं नहिं भवसुख कदा॥

यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरण अब ।
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै परकी प्रवृत्ति सब ॥७॥

शब्दार्थ

अरि=शत्रु । मित्र=इष्ट-प्रिय । महल=मकान । मसान=मरघट । कंचन=सोना । कांच=शीशा । निंदन=निन्दा । थुति=स्तुति-प्रशँसा । अर्घावतारन=अर्घ चढ़ाना । असिप्रहारन=तलवार चलाना । समता=समबुद्धि-एकसा बर्त्ताव । वृष=धर्म । मुनि साथ=संघ सहित । एक विचरैं=एका विहारी-अकेले विचरना । भवसुख=संसार सुख । कदा=कभी । स्वरूपाचरन=वैराग्य शक्ति-आत्म स्वरूप में विचरना । निधि=कोष-सम्पत्ति । परकी=अशुद्ध-मिश्रित ।

अर्थ-

१८ अट्ठाईस मूलगुणों के धारक मुनि महात्मा शत्रु मित्र, मकान-मरघट, सोना-शीशा, निन्दा-स्तुति, अर्घ चढ़ाना-तलवार मारना आदि परस्पर विरुद्ध कार्यों में समान बुद्धि (रागद्वेष का अभाव) रखते हैं । अर्थात् अच्छे कार्यों में राग नहीं करते और बुरे कार्यों में द्वेष नहीं करते, किन्तु अपने काम से काम (कर्त्तव्य पालन) रखते हैं । याने सदैव बारह प्रकार का तप तपना, दश प्रकार का धर्म धारण करना, रत्नत्रय का सेवन करना और अनेक मुनियों (संघ) के साथ व अकेले ही विहार

करना इत्यादि कर्त्तव्यों को प्रसन्नता के साथ (आत्म-संक्लेश विना) पालते हुए कभी भी सँसार सुख की वांछा नहीं करते—इस प्रकार का सकलसँयम रूप चारित्र पालते हैं। आँगे अब स्वरूपाचरण चारित्र को कहते हैं; जिसके प्रकट् होने से अपनी खास संपत्ति (स्वकीय विभूति) प्रकट होती है और परकी सारी प्रवृत्ति (परकीय विभूति—परपरिणमन रूप मिथ्या क्रिया) नष्ट हो जाती है—केवल अपना २ ही साम्राज्य रह जाता है।

प्रश्न—स्वरूपाचरण चारित्र किसे कहते हैं? इसका उत्तर—

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डार अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादितैं, निजभाव को न्यारा किया॥
निज माहिं निजकै हेत निजकर, आपको आपै गह्यो।
गुणगुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मझार कछु भेद न रह्यो ॥८

जंह ध्यान ध्याता ध्येय को न, विकल्प वच—भेद न जहां।
चिद्भाव-कर्म, चिदेश—कर्त्ता, चेतना—किरिया तहाँ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध—उपयोग की निश्चलदशा।
प्रकटी जहां दृगज्ञानव्रत ये, तीनधा एकै लसा ॥९॥

[illegible] निक्षेप को न, उदोत अनुभव में दिखे।

दृगज्ञान सुखबलमय सदा, नहिं आनभाव जु मो विषें ॥
मैं साध्य साधक मैं अबाधक,कर्म अरु तस फ़लनतें ।
चित पिंड चंड अखँड सुगुण-करण्ड च्युत पुनि कलनतें॥
यों चिन्त्य निजमें थिरभये,तिन अकथ जो आनंद लह्यो।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र के नाहीं कह्यो ॥

शब्दार्थ-

पैनी = तेज-धारवाली । सुबुधि = सम्यग्ज्ञान । छैनी = कटनी । भेदिया = अलग २ करना । वरणादि = ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म (नामके एकदेश का ग्रहण) रागादि = भावकर्म । न्यारा = पृथक् निजमाहिं = अपने में (अधिकरण) निजके हेत = अपने लिये (चतुर्थी) निजकर = अपने द्वारा (करण) आपको = अपने को (कर्म) आपै = खुद (कर्त्ता-प्रथमा) ज्ञाता = आत्मा (कर्त्ता) ज्ञान = चेतना (क्रिया) ज्ञेय = पदार्थ (कर्म) विकल्प = भेद । चिद्भाव = आत्मा का भाव (कर्म) चिदेश = आत्मा (कर्त्ता)। चेतना = उपयोग (क्रिया) अभिन्न = भेद रहित-एक। अखिन्न = न्यूनता रहित । निश्चल = अटल । एकै = एक साथ-युगपत् । लसा = शोभित होना। परमाण = सम्यग्ज्ञान। नय = प्रमाण का एकदेश । निक्षेप = आरोप—न्यास । उद्योत = उदय-प्रकाश । अनुभव = उपयोग । आन = दूसरे । चित्पिंड = चेतना का खजाना । चंड = प्रतापी । अखँड = पूर्ण। सुगुणकरण्ड = उत्तम २ गुणों का पिटारा । कलनि = कर्ममलादि ।

अर्थ-

जब सम्यग्ज्ञान (भेद विज्ञान) रूपी अत्यन्त तेज छैनी को अन्तरंग में डालकर आत्मिक भावों को ज्ञानावरणादि रूप द्रव्यकर्म और रागादिक रूप भावकर्म से पृथक् कर दिया जाता है और (इसीलिये) जब कारक चक्र का भेद नहीं रहता याने अपने में (अधिकरण-सप्तमी) अपने लिये (संप्रदान-चतुर्थी) अपने कर (करण-तृतीया) अपने को (कर्म-द्वितीया) आप ही (कर्त्ता-प्रथमा) ग्रहण करलेता है और जब गुण-गुणी ज्ञाता-ज्ञेय, इनमें भी कोई भेद नहीं रहता तथा ध्यान ध्याता-ध्येय इनका भी विकल्प-जो वचनों से कहाजाय नहीं रहता; किन्तु चैतन्य ही कर्म, (वही) चैतन्य ही कर्त्ता और चैतन्य ही क्रिया (कर्त्ता-कर्म-क्रिया का-अभेद) हो जाता है. और जब अभिन्न और परिपूर्ण शुद्ध उपयोग की निश्चल अवस्था प्रकट होती है तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों एकसाथ शोभित होते हैं। और जब प्रमाण-नय-निक्षेप इनका उदय (भेद रूप-कार्य) होना बन्द होजाता है (समझ में नहीं आता) किन्तु दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य इस अनन्तचतुष्टय के सिवाय दूसरे भाव आत्मा में नहीं रहते, खाली आत्मा

(मैं) ही-साध्य (मुक्त) साधक और कर्म व उसके फल (संसार भ्रमण) से सर्वथा निर्मुक्त (रहित) चैतन्य का पिंड (घर) प्रतापो-ऐश्वर्यशाली सब तरह से समर्थ, उत्तम २ गुणों का आधार (खजाना) कर्ममल से दूर-है, ऐसा चिन्तवन (अनुभव) होने लगने से अपने में स्थिर हो जाता है उसी को स्वरूपाचरण (आत्म विचरण) चारित्र कहते हैं। तथा उस समय जो अकथनीय आनन्द प्राप्त होता है वह इन्द्र नागेन्द्र-नरेन्द्र व अहमिन्द्र को भी मिलना कठिन (दुर्लभ) क्या असंभव है। तात्पर्य यह कि सब तरह के विकल्पों से रहित, निर्विकल्प आत्मानुभव होने को स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं। जो कि दर्शन मोह अनन्तानुबँधी व स्वानुभूत्यावरणकर्म के अभाव से होता है।

भावार्थ-

यों तो स्वरूपाचरण चारित्र अव्रत-चौथे गुणस्थान में ही प्रकट् हो जाता है; किन्तु यहां पर वह विवक्षित नहीं है। यहाँ तो पूर्ण स्वरूपाचरण चारित्र--जो कि यथाख्यात चारित्र के साथ २ ग्यारहवें--बारहवें गुणस्थान में होता है, विवक्षित है। क्योंकि उपर्युक्त कुल अवस्था वहीं पर होना संभव है। उससे नीचे तो खाली उसका आभास होने लगता है पूर्णता नहीं।

प्रश्न—स्वरूपाचरण—चारित्र होने के समय और क्या होता है व उसका क्या फल है ? इसका उत्तर—

तबही शुक्लध्यानाग्नि कर, चउ घातिविधिकानन दह्यो ।
सब लख्यो केवलज्ञान कर, भविलोककूँ शिवमग कह्यो ॥
पुनि घात शेष-अघाति विधि, छिनमाहिं अष्टम-भू वसै ।
वसुकर्म विनसैं सुगुणवसु, सम्यक्त्व आदिक सब लसैं ॥
संसार खार अपार पारावार, तरि तीरहिं गये ।
अविकार अकल अरूप, शुध चिद्रूप अविनाशी भये ॥
निजमाहिं लोक अलोक गुण-पर्याय प्रतिबिंबित थये ।
रहि हैं अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परिणये ॥

शब्दार्थ—

शुकल ध्यानाग्नि=शुकल ध्यान रूपी अग्नि । घाति विधि कानन=घातिया कर्म रूपी जंगल (वन) । दह्यो=जलाना । केवलज्ञान=सर्वोत्कृष्ट ज्ञान । भविलोक=भव्यजीव । शिवमग=मोक्षमार्ग । घात=नष्ट करना । शेष=अवशिष्ट बचे हुए । अघातिविधि=अघातिया कर्म । छिनमाहिं=अन्त मुहूर्त्त में । अष्टमभू=आठवीं पृथ्वी-मोक्ष । वसुकर्म=आठकर्म । सुगुणवसु=उत्तम आठगुण । खार=अनिष्ट—दुखदायक । पारावार=समुद्र । तीरहिं=पहिलेपार । अविकार=विकार रहित । अकल=कर्म मल रहित । अरूप=रूपरसादि मूर्ति रहित । शुध=निष्कलंक

निर्दोष। चिद्रूप=चैतन्य स्वरूप । अविनाशी=नित्य—अविनश्वर। प्रतिबिंबित=प्रदर्शित होना—झलकने लगना । यथातथा=ज्यों के त्यों । परिणये=रहजाना ।

अर्थ--

स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट् होने के समय ही उसके प्रभाव से लगातार शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि द्वारा (दूसरे पाय द्वारा) चार-घातिया कर्म रूपी जँगल को समूल भस्म कर तत्त्तण केवलज्ञान पाय भव्य जीवों को मोत्त मार्ग का उपदेश देते हैं। तथा बाद में शेष बचे हुए चार अघातिया कर्मों का भी सँहार कर अन्तर्मुहूर्त्त में आठवीं पृथ्वी-मोत्त के विषें जा विराजते हैं—जहां पर कि पूर्वोक्त आठ कर्मों का नाश होने से सम्यक्त्वादि उत्तम (असा-धारण) आठ गुण शोभित (प्रकट्) होते हैं। इस तरह (पूर्वोक्त तरीका) से संसार रूपी खारे (कष्टदायक अप्रिय) महान (अनादि) समुद्र को तरकर पहिले पार जा पाते हैं और तब विकार रहित निर्मल अमूर्तिक शुद्ध चैतन्य स्वरूप नित्य हो जाते हैं। तथा उनके चैतन्य में लोक अलोक, गुण-पर्याय सब एक साथ दर्पण की तरह झलकने लगते हैं और वे अनन्तानन्त काल तक एकसे बने रहते हैं याने फिर उनमें किसी तरह का विकार पैदा नहीं होता—सदैव एकाकार परिणमन होता

रहता है। यह स्वरूपाचरण चारित्र का फल है।

आशीर्वाद और कर्त्तव्य—

प्रश्न—और फिर क्या कर्त्तव्य है ? इसका उत्तर—

धनि धन्य हैं जे जीव नरभव, पाय यह कारज किया।
तिनही अनादि भ्रमन पंच, प्रकार तजवर सुख लिया॥
मुख्योपचार दुभेद यों, बड़भागी ! रत्नत्रय धरें।
अरु धरेंगे ते शिवलहैं, तिन सुजश-जल जगमल हरें।
इम जान आलस हानि साहस, ठानि यह सिख आदरो॥
जबलों न रोग जरा गहै, तबलों जगत् निज हितकरो॥
यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।
चिरभजे विषय कषाय अब–तो,त्याग निजपद वेइये॥
कहा रच्यो परपद में न तेरो, पद यहै क्यों दुःख सहै।
अब 'दौल' होहु सुखी स्वपदरचि, दाव मत चूको यहै॥

शब्दार्थ--

मुख्योपचार=निश्चय-व्यवहार । बड़भागी=बड़े भाग्यवान् । सुजशजल=सुकीर्तिरूपीजल । समामृत=समतारूप अमृत । चिरभजे=अनादि से सेवन किये । वेइये=धरिये-प्राप्त करना चाहिये । रच्यो=आसक्त होना । यहै=यह । दाव=मौका ।

अर्थ-

वे प्राणी धन्यवाद के पात्र हैं जो कि मनुष्य पर्याय पाकर यह (पूर्वोक्त) कार्य करते हैं। और वे ही अनादि कालीन पांच प्रकार के परावर्त्तनों (पूर्वोक्त) का त्याग कर उत्तम सुख को पाते हैं। तथा जो पुरुष निश्चय और व्यवहार के भेद से दो तरह के कहे हुए रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का साधन करते हैं, वे ही पुरुष मोक्षको पाते हैं और आंगे पांयगे तथा वे ही सुकीर्त्तिरूपी जल के द्वारा सँसार का मल (पाप रूपी कीचड़) धो देते हैं याने दूर करते हैं। ऐसा जानकर व आलस का त्यागकर तथा साहस को धारकर यह कही हुई शिक्षा ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जब तक कोई रोग दोष व बुढ़ापा नहीं आता तब ही तक अपना व पराया (दूसरों का) भला कर सक्ते हैं। देखो यह राग (मोह) रूपी अग्नि अनादि से जीवों को जला रही है, इसलिये इसको शान्त करने के लिये समता रूपी अमृत का सेवन करना चाहिये। और अनादि काल से जिन विषय-कषायों का सेवन किया है उनको त्यागकर अब (अखीर वक्त) अपने स्वरूप को पहिचानना या प्राप्त करना चाहिये। अरे भाई! (संबोधन रूप शिक्षा) पर स्वरूप में तूं क्यों

निमग्न हो रहा है (जरा अपने स्वरूप की तरफ भी तो देख) वह तेरा स्वरूप नहीं है फिर उसमें फँसकर तू क्यों दुःखी हो रहा है। हे दौलतराम (आत्म सँबोधन) अब तुम अपने स्वरूप में पगकर सुखी होओ और यह मौका हाथ से मत जानेदो–मौका बार २ नहीं मिलता। अथवा पंडित दौलतराम जी (ग्रन्थकर्त्ता) का यह कहना (शिक्षा) है कि सब लोग बताए हुए मार्ग पर चलकर सुखी होओ किन्तु व्यर्थ ही इस अपूर्व मौकेको हाथ से न खो देओ बस इसी में भला है–मौका बार २ नहीं मिलता इति।

ग्रन्थकाल (प्रशस्ति)

१ ९ ८ १

इक नव वसु इक वर्ष की, तीज शुक्ल वैशाख।
करयो तत्त्व उपदेश यह, लखि बुधजन की भाख॥
लघुधी तथा प्रमाद तैं, शब्द अर्थ की भूल।
सुधी सुधार पढ़ो सदा, जो पावो भव कूल॥

शब्दार्थ--

बुधजन=बुधजनकवि अथवा बुद्धिमान् मनुष्य। भाख=कथन। लघुधी=मन्द बुद्धि। सुधी=विद्वान्। भवकूल=संसार का किनारा।

अर्थ--

विक्रम संवत् १८९१ की वैशाख शुक्ल तृतीया (अक्षय तृतीया) के रोज बुधजन कवि अथवा अच्छे २ बुद्धिमान् लोगों के कथन को देख समझकर यह तत्त्वोपदेश (छहढाला ग्रन्थ) हमने पूर्ण किया है। इसलिये यदि हमारी मन्दबुद्धि (क्षयोपशमज्ञान-अल्पज्ञान) और प्रमाद से किसी तरह इसमें शब्द (छन्दादि) एवं अर्थ की त्रुटि (भूल) हो गई हो तो समझदार-सज्जन पुरुषों का काम है कि वे उसे सुधार (दुरुस्त) कर स्वयँ पढ़ें और दूसरों को पढ़ावें; जिससे सँसार का अन्त प्राप्त हो।

नोट—यहाँ पर अंक जोड़ने समय सदैव यह याद रखना चाहिये कि उनकी लिखावट उर्दू की तरह उल्टी (दाहिनी बाजू से डेरी तरफ) होती है, जैसी कि इसी कविता में है।

टीका काल-(प्रशस्ति)

अग्नि[3] ऋषि[7] गिनलेव अरु, ग्रह[9] तारागणईश[1]।
'मनमोहनि' टीका भई, जिठ दुज कृष्ण नदीश ॥

शब्दार्थ--

तारागणईश=चन्द्रमा। दुज = द्वितीया। कृष्ण = कृष्णपक्ष-बदि। नदीश = सागर।

अर्थ--

विक्रम सँवत १९७३ के जेठ वदि दोज के दिन सागर शहर (सी. पी. मध्यप्रदेश) में यह 'मनमोहनी' नामकी टीका पूरी हुई ऐसा समझना ।

छहों ढालों का सारांश-

१ पहिली ढाल में खास २ ग्यारह ११ प्रश्न व उनके उत्तर हैं। २ दूसरी ढाल में १५ प्रश्न व उनके उत्तर हैं। ३ तीसरी ढाल में ४२ प्रश्न व उनके उत्तर हैं। ४ चौथी ढाल में २३ प्रश्न व उनके उत्तर हैं। ५ पाँचवीं ढाल में १४ प्रश्न व उनके उत्तर हैं। ६ छटवीं ढाल में १६ प्रश्न व उनके उत्तर हैं। इस तरह छहों ढालोंमें १२१ खास प्रश्न व उनके उत्तर हैं। बाकी उनके लागू २ और कितने ही प्रश्न व उनके उत्तर दिये गये हैं जो गिन्ती में नहीं लिये। इस वास्ते यह पुस्तक एक अपूर्व पुस्तक होगई है। हमारा दावा है कि यदि अच्छी तरह से इस एक पुस्तक को ही धर्म शास्त्र जिज्ञासु भव्यात्मा समझ लेंगे तो निःसन्देह उनकी इच्छा पूर्ण हुए विना न रहेगी, यह निश्चय समझिये। ज्यादह तारीफ करना व्यर्थ है प्रत्येक श्रावकको यह पुस्तक जरूर रखना चाहिये। अभी तक जैन समाज में इस ढंग की प्राथमिक पुस्तक एक भी नहीं है। अखीर में यही विनय है कि एकवार इसका कम से कम स्वाध्याय जरूर करें।